सिद्धयोग

• [illegible]
[illegible]

...म्बर
...९८५

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सँवाई, आगरा

वर्ष १८...
अंक ६

इस अंक में—

प्रकाशक

श्री सिद्धगुफा, सवाई

- नमो ब्रह्मणे व्यापिने — १
- समाधि व संयम — २
  योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
- कर्म आचरण तथा संस्कार रहस्य — ८
  आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा
- एक दिन की बात — १८
  श्री दर्शनानन्द
- गुरु-भक्ति — २०
  श्री रामयश उपाध्याय
- श्री प्रभु नाम चमत्कार — २३
  श्री कृष्णकुमार पाण्डेय
- भावना-शक्ति — २७
  श्री विजय शङ्कर उपाध्याय
- धर्म-पुण्यं-कर्म योगम् — ३१
- भगवान् से क्या मांगें ? — ३२
  आचार्य श्री केशवराम शर्मा
- यौगिक प्रश्नोत्तरी — ३५
- आयुर्वेद और योग — ४०
  श्री नारायणदत्त शर्मा
- सच्चा शिष्यत्व — ४५
  श्री विष्णु प्रसाद व्यास
- श्री सद्गुरुदेव के चरणों में मेरा आत्म-समर्पण — ४६
  श्री कपिलदेव उपाध्याय

संयुक्त सम्पादक

'दिव्य'

सितम्बर १९८५

वार्षिक मूल्य २५ रुपया । इस अङ्क का ३ रुपया

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः ॐ

परम पूज्य योगयोगेश्वर अनन्त श्री

सद्गुरुदेव भगवान का

卐 जन्मोत्सव--समारोह 卐

विजय दशमी २३ अक्टूबर १९८५ दिन बुधवार को

गुरु भाई श्री स्वामी प्रसादसिंह एडवोकेट के निवास स्थान

कछवा बाजार (मिर्जापुर) में मनाया जायगा।

हमें यह सूचित करते हुए अपार हर्ष की अनुभूति हो रही है कि परम पूज्य करुणार्णव श्री गुरुदेव भगवान का जन्मोत्सव समारोह श्री गुरुदेव की आज्ञानुसार भाई श्री स्वामी प्रसादसिंह एडवोकेट के निवास स्थान "कछवा बाजार" (मिर्जापुर) में बड़े ही हर्षोल्लास एवं उत्साह पूर्वक दिनाङ्क २३ अक्टूबर १९८५ बुधवार विजयादशमी के दिन ही मनाया जायगा।

अतः सभी गुरु भाई-बहन तथा योग प्रेमी सज्जन इस आयोजन में सम्मिलित होने के लिए सादर, सप्रेम, सस्नेह आमन्त्रित हैं। इस सूचना को ही आप हमारा निमन्त्रण पत्र समझ कर विजयदशमी २३ अक्टूबर दिन बुधवार को आयोजित इस समारोह में सम्मिलित होकर उपस्थित भाइयों के उत्साह को बढ़ाते हुए गुरु पूजन एवं गुरु दर्शन का लाभ लेने की कृपा करें। जन्मोत्सव पर अवश्य-अवश्य पधारें।

विनीत:

अर्जुनसिंह

भोलासिंह

दर्शनाभिलाषी:

स्वामी प्रसादसिंह (एडवोकेट)

कछवा बाजार

मिर्जापुर

(कृपया दूसरी ओर भी पढ़े)

कछवा बाजार पहुँचने का साधन—

इलाहाबाद से—

इलाहाबाद रामबाग स्टेशन छोटी लाइन द्वारा (इलाहाबाद बनारस लाइन पर) 'कछवा रोड स्टेशन' पर उतरकर वहाँ से टेम्पो, ताँगा, बस इत्यादि साधनों द्वारा कछवा बाजार पहुँचें। दूरी—लगभग ३ किमी०।

या इलाहाबाद सिविल लाइन्स रोडवेज बस अड्डे से इलाहाबाद बनारस वाली बस से 'कछवा रोड चौमुहानी' उतरकर उपरोक्त साधन द्वारा कछवा बाजार पहुँचें। दूरी—८ किमी०।

बनारस से—

बनारस रेलवे स्टेशन के पास रोडवेज बस स्टैण्ड या कमलापति त्रिपाठी इ० कालेज के सामने से प्राइवेट बस, ट्रेकर द्वारा 'कछवा चौमुहानी' के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं।

मिर्जापुर से—

मिर्जापुर रेलवे स्टेशन के पास ही बस अड्डे से 'कछवा बाजार' के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं।

कार्यक्रम—

श्री सद्गुरुदेव जी १८ अक्टूबर शुक्रवार शाम को काशी विश्वनाथ एक्सप्रेस द्वारा चलकर १९ को प्रातः बनारस पहुँचेंगे तथा वहाँ से कार द्वारा कछवा बाजार पहुँचेंगे। यहाँ पर श्री गुरुदेव जी १९ से २४ अक्टूबर तक रहकर दिनाङ्क २५ अक्टूबर शाम ६ बजे अपरइण्डिया एक्सप्रेस द्वारा बनारस से टूण्डला (आश्रम) के लिए प्रस्थान करेंगे। जन्मोत्सव २३ अक्टूबर को मनाया जायगा।

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुरु योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष १८ अङ्क ९	ध्यानं प्रयाग यदिदं परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्, मर्त्यो मृत्योर्मुखं विचरतो, मुक्तिं नाप्नोति सद्यः। सद्ग्रन्थ्यर्थीन् बहुविधार्द योगशास्त्रोपदेशान्, कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः॥	सितम्बर १९८५

— ॐ नमो ब्रह्मणे व्यापिने ॐ —

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय,
नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय,
नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय॥

अर्थात्

हे अविनाशि-स्वरूप संसार के उत्पादक! आपको मैं नमस्कार करता हूँ। हे ज्ञानस्वरूप सब लोकों के धारण करने वाले प्रभो! आपको मैं नमस्कार करता हूँ। हे अद्वैत-स्वरूप मुक्ति प्रदान करने वाले प्रभो! आपको मैं नमस्कार करता हूँ। हे सबसे महान् सर्व-व्यापक प्रभो! आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

हमारा विशेष लेख—

समाधि तथा संयम

[illegible] योगीश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

योग की वर्णसिद्धि मन की एकाग्रता से प्रारम्भ होती है। भगवान् पतञ्जलिदेव जी ने योग के जिन आठ अङ्गों का वर्णन किया है, वे इस प्रकार हैं—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इन आठ अङ्गों में से यदि साधक एक से भी विहीन हो जाता है तो योग का पूरा शरीर नहीं बनता वरन् वह अङ्गहीन कहलाता है। बहुत से लोग इस अष्टांग योग का सोपान क्रम से पालन करना चाहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य सीढ़ी के एक डण्डे पर पैर रखकर उसके बाद उसके दूसरे डण्डे पर पैर रखता है और बाद में तीसरे और चौथे पर। इस प्रकार क्रमशः पैर रखते-रखते वह मनुष्य अपने परम लक्ष्य-भूत भवन की छत पर जा पहुँचता है, इसी को सोपान क्रम कहा जाता है। इसी प्रकार कोई-कोई व्यक्ति अष्टांग योग को भी इस सोपान क्रम से पालन करना चाहते हैं। वे लोग इस बात को प्रायः कहते हैं कि जो पहले यम-नियमों का पालन नहीं करता और बादमें आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि का पालन नहीं करता वह पहले से ही आठवीं सीढ़ी—समाधि पर कैसे आरूढ़ हो सकेगा।

मेरे अपने विचार में अष्टाङ्ग योग को सोपान क्रम में सन्निहित करना विद्वान एवं बुद्धिमान मनुष्यों का कार्य नहीं है। हमारे शरीर में हाथ, पैर, मुख, नासिका, कान और आँखें आदि भिन्न-भिन्न अंग और प्रत्यंग हैं। इनका हम सोपान क्रम से पालन करने का विचार करेंगे तो पहले हमें अपने पैरों की ही पालना करनी चाहिए, न कि मुख, कान, नासिका आदि की। क्योंकि मुख, कान, नासिका आदि-आदि सोपान क्रम के हिसाब से पैरों के पीछे पड़ते हैं। परन्तु यह बात सिद्धान्तानुकूल नहीं है, प्रत्युत बिल्कुल गलत एवं अर्थ-शून्य सी है। जिस प्रकार से मनुष्य अपने मुख के द्वारा अन्न ग्रहण करता है और वह अन्न पक्वाशय में जाकर पक जाता है, तत्पश्चात् रस-रक्त आदि में बदल कर, वह सारे शरीर के अङ्गों और उपाङ्गों में व्यापक हो जाया करता है तथा इस रक्त रसादि के शरीर में व्याप्त हो जाने के बाद सारे शरीर को ही साङ्ग शरीर कहते हैं। इसी प्रकार से योग के अङ्गीभूत यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि सभी अंगों के द्वारा योग शब्द की अभिव्यक्ति होती है और सभी अंगों का एक साथ पालन करना बनता है। जो लोग

योगांगों को सोपान क्रम से पालन करना चाहते हैं वे भारी भूल पर हैं। इसलिए योग-साधना के जिज्ञासुओं को सभी अंग-प्रत्यंगों का एक साथ पालन करना चाहिए, तभी अष्टांग-योग की पूरी पूरी साधना बन सकेगी। यह मैं पहले भी भली प्रकार से बता चुका हूँ कि योग के आठ अंगों में पांच बहिरंग अंग और तीन अन्तरंग अंग माने जाते हैं। योग के पांच अंगों की साधना बहिर्मुखी वृत्ति रखते हुए भी साधक कर सकता है, किन्तु धारणा, ध्यान, समाधि इन तीन अन्तरंग अंगों का पालन साधक अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा ही भली प्रकार कर सकता है। इसलिये योग की वर्णा-क्षरी धारणा से ही प्रारंभ होती है। योग-दर्शन के कैवल्य पाद के प्रथम सूत्र में विभिन्न प्रकार की कुछ सिद्धियों का वर्णन है। सूत्र इस प्रकार है—

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः।

इस सूत्र में जन्म से होने वाली सिद्धियों, औषधियों से होने वाली सिद्धियों, मन्त्र, तप और समाधि से होने वाली सिद्धियों का वर्णन है। मनुष्य सिद्धियों को अनेक प्रकार से प्राप्त कर सकता है। किन्तु योग की परिभाषा में महत्व समाधिजा सिद्धियोंका ही है। समाधि-जा सिद्धियां मन की सिद्धियां हैं, जो मनुष्य संसार में मन की शक्ति को बढ़ाना चाहता है, उसको चाहिए कि वह योग के तीन अन्तरंग अंगों का दृढ़ता से पालन करना आरम्भ करे, ऐसा करने पर ही वह मनुष्य समाधि के चरम लक्ष्य तक पहुँच सकता है। इन तीन अंगों में सबसे पहले अंग का नाम धारणा है। धारणा की परिभाषा बतलाते हुए भगवान् पतंजलिदेव ने अपने योग-दर्शन के विभूति पाद के पहले सूत्र में धारणा की परिभाषा इस प्रकार स्पष्टता के साथ बतला दी है—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

अर्थात् किसी एक लक्ष्य स्थान में अपने चित्तको एकाग्र करना धारणा की साधना है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए श्री व्यासदेव जी महाराज ने धारणा का अर्थ करते हुए निम्नांकित पंक्तियां लिखी हैं—

नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि, ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येव-मादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा।

नाभि चक्र, हृदयकमल, मूर्धा ज्योति, नासिकाग्र आदि-आदि स्थानों में या किसी भी आध्यात्मिक विषयमें चित्त का वृत्तिमात्रेण संस्थान धारणा कहलाती है। मनुष्य का अपने मन को संयत बना करके विविध साधनाओं के द्वारा चित्त के राजस-तामस भावों को नष्ट करके उपरोक्त किसी विषय में चित्त का वृत्ति-बन्ध से एकाग्र करना धारणा कहलाती है। यही धारणा दृढ़ता के साथ अभ्यास की हुई ध्यानके रूपमें परिवर्तित हो जाया करती है। हमारे शास्त्रों में उल्लेख है—

प्राणायामेन पवनं,
प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् ।
वशीकृत्य ततः कुर्या-
च्चित्तस्थानं शुभाश्रये ॥

अर्थात् प्राणायाम के द्वारा वायु पर जय प्राप्त करके और प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रियों को वश में करके फिर उसके बाद शुभ लक्षण चित्त को धारणा में स्थापित करें। धारणा से पहले पवनाभ्यास एवं प्रत्याहार के द्वारा इन्द्रिय की साधना इसलिये कही गई है ताकि मनुष्य का मन चित्त के राजस, तामस भावों को छोड़कर अपने वशीभूत धारणा में बिल्कुल अवस्थित हो जावे। अभ्यासी मनुष्य को कभी भी घबराना नहीं चाहिये। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह फल को ईश्वराधीन छोड़ करके अपने कर्तव्य पर दृढ़ता से आरूढ़ रहे।

इसी प्रकार की साधना को श्रीमद्भगवद्गीता में निष्काम कर्मयोग के रूप में वर्णन किया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए स्वयं यह आदेश दिया है कि—

कर्मण्येवाधिकारस्ते,
मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा,
ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! कर्म करने में तुम्हारा अधिकार है, फल में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। कर्मफल के पीछे मत पड़े रहो और यह भी नहीं होना चाहिये कि कर्मफल की अभि-लाषा नहीं है, तो मनुष्य निकम्मा बनकर बैठ जाय। इसलिये धारणा का अभ्यास करने वाले व्यक्तियों के मन को उत्साहित करके दृढ़ता से अपने अभ्यास में लगाये रखना चाहिए। उत्साहपूर्वक एवं लगातार किया हुआ अभ्यास बहुत जल्दी ही अपने परिणाम दिखा दिया करता है। ज्यों-ज्यों मनुष्य धारणा का अभ्यासी बनेगा त्यों-त्यों उससे ऊँची भूमिका स्वतः ही उसके सामने प्रकट होने लग जायेगी। ध्यान की परिभाषा योग-दर्शन में भगवान् पतञ्जलिदेव ने इस प्रकार बतायी है—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

इस सूत्र पर व्यास भाष्य इस प्रकार है—

तस्मिन्देशे ध्येयावलम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ।

अर्थात् चित्त का ध्येय विषय में सब प्रकार के विषयों को छोड़ करके तैल धारावत् एकाग्र हो जाना ध्यान कहलाता है, इसी का नाम सदृश प्रवाह है। जब साधक अपने चित्त को इसी प्रकार से एकाग्र करता चला जाता है और पूर्व पुण्य प्रभाव से कोई भी किसी प्रकार का अन्तराय पैदा नहीं होता, तब वही चित्त अपने ध्येय में तदाकारित होकर अर्चिमार्ग में भासित होने लगता है। जिस समय चित्त ध्येय विषय में अपने आपको ध्येयाकार वाला बना लेता है तब इसी अवस्थाको हमारे योगाचार्यों

ने समाधि कह करके परिभाषित किया है। भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

पढ़िये इस सूत्र पर व्यास भाष्य—

ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते।

अर्थात् यह ध्यान ही ध्येयाकार रूप में परिवर्तित होकर ध्येय रूप से भासित होने लगता है, इसी का नाम समाधि है और यह समाधि ही सभी अन्तरायों से बचकर संयम के रूप में बदल जाया करती है। इस समाधि का अभ्यास करने वाला योगी समाधिजा सिद्धियों का अधिकारी बन जाया करता है, तब जहां-जहां यह योगी संयम करता है तब वहां-वहां की सिद्धियां इसको उपलब्ध होती रहती हैं। योग-दर्शन के विभूतिपाद में इन्हीं सिद्धियों का विशद रूप से वर्णन है। संयम की परिभाषा करते हुए भगवान् पतंजलिदेव जी ने कहा है—

त्रयमेकत्र संयमः।

अभ्यासी का अभ्यास इतना दृढ़ होना चाहिये कि उसके धारणा काल, ध्यान काल, समाधि काल—तीनों में उसके मनको विक्षिप्त करने वाला कोई भी अन्तराय पैदा न हो पावे, ऐसी स्थिति ही संयम की दृढ़ता कहलाती है। जब तक संयम सुदृढ़ नहीं हो जाता तब तक साधक समाधिजा सिद्धियों का अधिकारी नहीं बन पाता। इस बातको इस प्रकार समझ लेना चाहिये कि हमारा चित्त परिणामी है और उसमें विभिन्न प्रकार के परिणाम इन्द्रिय-विषय संयोग से पल-पल में होते रहते हैं। आंख ने किसी रूप को देखा और हमारा परिणामी चित्त आंख का बल पाकर तुरन्त रूप विषयक बन गया। उसी समय कान ने किसी गम्भीर शब्द को सुना, चित्त ने रूप को तत्काल छोड़ दिया व वह चित्त कर्णेन्द्रिय से सम्बद्ध होकर शब्द विषयक बन गया। थोड़ी ही देर बाद पीछे से आकर किसी ने शरीर का स्पर्श किया तो परिणामी चित्त झटपट अपने शब्द विषय को छोड़कर स्पर्श की ओर भाग निकला और वह स्पर्श विषयक बन गया। इसी प्रकार से कहीं गंध को ग्रहण करता है, कहीं रस को भोगता है। क्षण-क्षण में इन्द्रियों के द्वारा आकर्षित हुआ चित्त विभिन्न परिणामों को प्राप्त होता रहता है इसलिये हमारा यह चित्त सर्वार्थक चित्त है। हमने अपने सर्वार्थक चित्त को एकाग्रता-परिणाम की ओर बदलना है और उसका प्रमुख साधन हमारे पास धारणा है। अनेक अर्थों को ग्रहण करने वाले चित्त को एकार्थक बनाना है और उसकी एकाग्रता परिणाम के अन्दर परिणित करना है। परिणामस्वरूप योगी के अनवरत अभ्यास करने पर ऐसा होता ही। भगवान् पतंजलिदेव ने भी कहा है—

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।

अर्थात् सर्वार्थकता के क्षय होने पर और एकाग्रता के उदय होने पर चित्त को एकाग्रता रूप समाधि-परिणाम हुआ करता है। इस सूत्र पर भगवान् व्यासजी ने चित्त के धर्मों को स्पष्ट करते हुए निम्नांकित पंक्तियां लिखी हैं—

सर्वार्थता चित्तधर्मः। एकाग्रतापि चित्तधर्मः। सर्वार्थतायाः क्षयस्तिरोभाव इत्यर्थः। एकाग्रताया उदय आविर्भाव इत्यर्थः। तयोर्धर्मित्वेनानुगतं चित्तं, तदिदं चित्तमपायोपजनयोः स्वात्मभूतयोर्धर्मयोरनुगतं समाधीयते स चित्तस्य समाधिपरिणामः।

अर्थात् धर्मी चित्त का सर्वार्थता भी धर्म है और एकाग्रता भी धर्म है। अब हम अपने चित्त को सर्वार्थता से छुड़ाकर एकाग्रता के रूप में बदलना चाहते हैं तो उसमें सर्वार्थता का क्षय हो जायगा और एकाग्रता का उदय हो जायगा। एकाग्रता के उदय हो जाने पर यह चित्त का समाधि-परिणाम हो जायगा। इस प्रकार अभ्यास करते हुए जब चित्त ध्यान, धारणा व समाधि तीनों में एक विषयक रहता चला जायगा, तभी वह संयम पदारूढ़ हो सकेगा। जिस समय हम सर्वार्थक चित्त को एकाग्रता में परिणित करना चाहते हैं उस समय इसके सर्वार्थक रूप धर्मी चित्त के जो धर्म परिणाम थे उनको बिलकुल छोड़ करके एकाग्रता रूप धर्म परिणाम को स्वीकार किया।

किन्तु इस धर्मी चित्त का यह एकाग्रता रूप धर्म परिणाम धारणा, ध्यान और समाधि तीनों में एक जैसा बना ही रहना चाहिये। यह नहीं होना चाहिए कि हमने जिस विषय को धारणा कालमें ध्येयीभूत बनाया है उस विषय में धारणा काल में तो हमारा एकाग्र चित्त होता चला जाय और बादमें ज्योंही ध्यान का समय आवे उसी समय चित्त अन्तरायों से अभिभूत होकर किसी दूसरे लक्ष्य में अनुरक्त हो जाय, प्रत्युत धारणा काल में जिस लक्ष्य को चित्त के लिये ध्येय बनाया था, ध्यानकाल में भी उसी में चित्त बराबर एकाग्र रहना चाहिए। इस प्रकार से ज्योंहि चित्त समाधि के धर्मोंमें परिणित हो उस समय जो चित्त के सामने जो विषय धारणा और ध्यान काल में ध्येयभूत था, समाधिकाल में भी उसी लक्ष्य में ही समाहित होना चाहिए, तभी संयमको प्राप्त हो सकता है।

भगवान् पतंजलिदेव ने 'तज्जयात्प्रज्ञालोकः' कह करके इसी विषय का पूरा-पूरा स्पष्टीकरण कर दिया है। जिस समय संयम स्थिर-पद हो जायगा तभी साधक संयम पर जय पा सकता है। भगवान् व्यासदेव लिखते हैं—

तस्य संयमस्य जयात्समाधिप्रज्ञाया भवत्यालोको यथा यथा संयमः स्थिर-पदो भवति तथा तथा समाधिप्रज्ञा विशारदी भवति।

अर्थात् संयम के जय कर लेने पर समाधि प्रज्ञा का प्रकाश हो जाता है। ज्यों-ज्यों संयम स्थिरता को प्राप्त करता है त्यों-त्यों समाधि प्रज्ञा निर्मलता को प्राप्त होती है। ज्यों-ज्यों समाधि प्रज्ञा निर्मलता को प्राप्त होती जाय और संयम स्थिरपद होता रहे, त्यों-त्यों उसका संयम की भूमियों में विनियोग करना चाहिये। भगवान् पतञ्जलि आज्ञा देते हैं—

तस्य भूमिषु विनियोगः।

अर्थात्—

तस्य=संयमस्य जितभूमेर्याऽनन्तरा भूमिस्तत्र विनियोगः। न ह्यजिताधरभूमिरनन्तरभूमिं विलङ्घ्य प्रान्तभूमिषु संयमं लभते तदभावाच्च कुतस्तस्य प्रज्ञालोकः। ईश्वरप्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः, कस्मात्? तदर्थस्यान्यत एवावगतत्वात्। भूमेरस्या इयमनन्तरा भूमिरित्यत्र योग एवोपाध्यायः।

अर्थात् संयम के जीत लेने पर उसके बाद वाली भूमिकाओं में संयम करना उपयुक्त है। पहली भूमिकाओं में जय प्राप्त किये बिना, बीच की अन्तरा भूमिका को छोड़कर जो लोग प्रान्त भूमियों में संयम करने का प्रयत्न करते हैं। उन सबको स्फुट प्रज्ञालोक नहीं हो पाता और जिन विशेष भाग्यवान जीवों ने ईश्वर की कृपा से प्रान्त भूमियों में संयम को सिद्ध कर लिया है, उनको उससे नीचेकी भूमिकाओं में संयम उपयुक्त है। क्योंकि जितोत्तर भूमिक योगी को अधम भूमियों का ज्ञान साधारण अपेक्ष हो जायगा। एक भूमि में जय प्राप्त कर लेने के बाद दूसरी भूमि का ज्ञान योगी को स्वतः ही होता रहता है। हमारे शास्त्रकारों ने बिल्कुल स्पष्ट कह दिया है—

योगेन योगो ज्ञातव्यो,
योगो योगात्प्रवर्तते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन,
स योगी रमते चिरम्॥

अर्थात् योग से ही योग को जानना चाहिए, योग से ही योग चलता है, जो योगाभ्यास में प्रमत्त है वही व्यक्ति देर तक योगलीन रहता है। इसलिये योगाभ्यास-परायण व्यक्ति को अपने आपको योग-विलीन करने का प्रयत्न करना चाहिये।

इस प्रकार अभ्यास करने वाले व्यक्ति को धारणा, ध्यान और समाधि रूप संयमको सिद्ध करके उसकी भूमियों में विनियोग करना चाहिये, तभी वह समाधिजा सिद्धियोंको प्राप्त कर सकता है।

समाधिजा सिद्धियाँ किस प्रकार से उपलब्ध होती है, इसका विशद वर्णन इस छोटे से निबन्ध में हमने दर्शाने का प्रयत्न किया है। इन सिद्धियों को प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अष्टांग योग में सभी अंगों का यथार्थता से पालन करते हुए योग के तीन अन्तरंग अंग धारणा, ध्यान, समाधि को पूर्णरूपेण अभ्यास में ले आना चाहिये तभी वह सिद्धियाँ को प्राप्त कर सकता है। 卐

❀ कर्म, आवरण तथा संस्कार-क्षय

❀ आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा 'रीडर'

आवरण के अन्दर सार-वस्तु छिपी रहती है। जब तक आवरण हटाया नहीं जाता, तब तक सत्तावान पदार्थ की प्रतीति नहीं होती। केवल आवरण के ज्ञान तथा सद्-वस्तु के परिज्ञान से भी वस्तु की उपलब्धि नहीं हो पाती। किसी भी बीज को लें, उसमें वृक्ष छिपा हुआ रहता है। उसकी प्रतीति ज्ञान से नहीं हो पाती, जब तक उसको अंकुरित कर उसके आवरण को बीज से अलग करने की क्रिया न करें। बीज को जल, वायु, धूप का पोषण न मिले, तब तक होते हुए भी वृक्ष बीज से अभिव्यक्त नहीं हो पाता। उसी प्रकार जीव में प्रत्यक् चेतन शक्ति विद्यमान है। किन्तु बिना गुणवृत्तियों तथा संकल्प-विकल्प के आवरणों को अलग किये उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। तप और वैराग्य तथा भावना-भक्ति रूपी हवा, खाद और धूप के बिना बीज अंकुरित नहीं होगा। जब तक अंकुरित नहीं होगा, तब तक उसमें वृक्ष की सम्भावनायें अव्यक्त बनी रहेंगी। बीज और वृक्ष का रहस्य ही साधना का रहस्य है। वृक्ष को जानने के दो उपाय हैं—एक उपाय तो यह है कि वृक्ष के प्रत्येक अवयव को जानकर उसके मूल को जाना जाय। दूसरा उपाय है कि बीज के अन्दर से वृक्ष को प्रकट करके देखा जाय। पहला उपाय ज्ञान है और दूसरा उपाय विज्ञान है। जो ज्ञान और विज्ञान दोनों विधियों में पारंगत हो जाता है, वह योगारूढ़ होकर योगयुक्त हो जाता है। जिस प्रकार एक बीज से हजारों बीज प्रकट किये जा सकते हैं, उसी प्रकार योगी जप, तप, धारणा, ध्यान और समाधि से अपनी इन्द्रियों मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा सत्, रज, तम तीनों गुणों तथा कर्माशय एवं संस्कार-चक्र के आवरण को नष्ट कर मूल चित्त-शक्ति को अभिव्यक्त करके चिति-विलास का अलौकिक आनन्द प्राप्त करता है। जहाँ न शोक है, न मोह है और न भय या अतृप्ति है। अखण्ड चेतनात्मा के आनन्द रस से योगी समस्त ऐश्वर्य का अधिष्ठान बन जाया करता है।

हमारे जीवन में पूर्वार्जित कर्मों के संस्कार ही आवरण बनकर मल और विक्षेप पैदा करते हैं, जिससे शारीरिक रोग, मानसिक विकलता, चित्त का चाञ्चल्य तथा बुद्धि की जड़ता एवं प्राणों का विक्षोभ पैदा होता है। इनकी निवृत्ति के लिये योग-शास्त्र में प्राणायाम, जप, धारणा तथा ध्यान का उपदेश दिया गया है। प्राणायाम से मल नष्ट होते हैं। जप से संस्कारों का प्रवाह क्षीण होकर रुक जाता है। जप से ऐसे संस्कार नष्ट होते हैं, जिनसे मानसिक विकार पैदा होते हैं। मन के संकल्प-विकल्प को जप रोक देता है।

धारणा द्वारा संस्कारों का स्मृति के रूप में पुनः पुनः अंकुरित होना रुक जाता है तथा तुल्यजातीय शुभ संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है जिससे पाप कर्मों के संस्कार नष्ट हो जाते हैं। ध्यान से चित्त लयता को प्राप्त होता है चित्त के अन्दर संस्कार सूक्ष्म रूप से प्रवेश कर चित्त विक्षेप पैदा कर श्वास-प्रश्वास की गति को बिगाड़ देते हैं।

चित्त की उद्विग्नता से एकाग्रता नहीं आ पाती। ध्यान के द्वारा सुषुप्ति जैसी स्थिति आने पर समाधि-भावना द्वारा चित्त के संस्कार अपने कारण में लीन हो जाते हैं। संस्कारों के सामान्यतया तीन रूप होते हैं— विच्छिन्न, उदार तथा सूक्ष्म या प्रतनु। योग साधना की विभिन्न क्रियाओं से उदार अर्थात् स्थूल रूप से भोग रूप में उपस्थित संस्कारों को ध्यान के द्वारा सूक्ष्म रूप बनाकर सूक्ष्म से भोगकर विच्छिन्न अर्थात् नष्ट कर दिया जाता है। योगाभ्यास के बिना इन संस्कारों का भोग लम्बे समय तक भोगना पड़ता है। बीजांकुर न्याय से पुनः पुनः यह संस्कार चक्र चलता ही रहता है। किन्तु योगी विवेकज्ञान तथा समाधि दशा में सूक्ष्म रूप से प्राप्त संस्कारों को ज्ञानाग्नि से दग्ध कर देता है जिससे भुने हुए या आवरण रहित बीज की तरह ये संस्कार पुनः नये संस्कार चक्र को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हो पाते।

चित्त को प्रभावित करने वाले संस्कार अधिक कष्टदायी तथा स्थायी होते हैं। चित्त के संस्कार असम्प्रज्ञात अर्थात् अविद्या से उत्पन्न होते हैं। अनात्म पदार्थों में आत्मभाव की प्रतीति अविद्या का ही परिणाम है। अपवित्र में पवित्र बुद्धि का होना, अनित्य को नित्य समझना—ये सब अविद्या के ही परिणाम हैं। आसक्ति और मोह से अविद्या जन्य संस्कार जन्म लेते हैं। कामी, क्रोधी लोभी व्यक्ति में आसक्ति और मोह प्रबल होता है जिसके फलस्वरूप वह परमार्थ पथ पर चलने का विचार तक मन में नहीं लाता। उसे वैराग्य ज्ञान और भक्ति बकवास लगते हैं। जब संस्कार चित्त में अपना स्थान बना लेते हैं तो वे चित्तज रोगों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। चित्तज रोग सूक्ष्म आवरण है। सन्त कवियों ने इसे झीनी माया भी कहा है जो साधक के अन्दर जन्म-मरण का बीज छिपाये रहती है जैसे नमक जल में डाल देने पर अपना नाम रूप छोड़कर उसी में लीन हो जाता है उसी प्रकार चित्त के संस्कार इष्ट ध्यान के नाम रूप और गुणों के ध्यान से एकाकार होकर नमक की तरह व्यापक विराट चेतना में विलीन हो जाते हैं। जैसे महाकाश में सारी गैस विलीन हो जाती है और वातावरण शुद्ध हो जाता है उसी प्रकार विराट भूमा या सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ईश्वर में चित्त का लय हो जाता है तो लय होने के साथ साथ चित्त के संस्कारों का भी लय हो जाता है।

जैसे वस्त्र के अग्नि में दग्ध होने पर वस्तु का आकार-प्रकार तथा रंग भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार चित्त की वृत्तियों के इष्ट के चित्त में विलीन होने से चित्त के संस्कार भी उसमें लीन होकर निःशेष हो जाते हैं। जब तक चित्त के संस्कारों का भोग नहीं होता तब तक शारीरिक और मानसिक रोग होते रहते हैं। चित्त में पड़े हुए जन्म जन्मान्तर के संस्कार देख लिए जाने पर मुक्त हो जाते हैं फिर वे आसक्ति और अहङ्कार के रूप में उद्भूत होकर नाना प्रकार के विक्षेप पैदा नहीं कर पाते।

चित्त के छिपे संस्कार मन और बुद्धि को अपना आश्रय बनाकर संसार की पकड़ को मजबूत करते हैं। जीव अपने शरीर, घरबार और धन सम्पत्ति, विद्या और जाति के अहंकार में बँधकर रागद्वेष अभिनिवेश का कष्ट भोगता चला जाता है। एक बार साधक कमर कसकर योग मार्ग का अवलम्बन ले लेता है तो सद्गुरु कृपा से उसे अपने आप साधना का पथ मिलता जाता है। कारुण्यामृत सागर श्री सद्गुरु कृपा का लक्षण ही यही है कि चित्त में आसक्ति और अहंकार कम होने लगते हैं। ज्ञान, भक्ति और वैराग्य का सूर्य उदित होने लगता है जिससे संस्कार चक्र की रात्रि समाप्त होने लगती है। यह सब तब होता है जब श्री सद्गुरु की कृपा से मन की बाह्य वृत्तियां पलट जायें। गोस्वामी तुलसीदास इसे ही जीव का जगना कहते हैं—

जानिय तबहिं जीव जग जागा।
जब सब विषय विलास विरागा॥

जब तक विषयों में आकर्षण लगता रहता है तब तक जीव मोह रूपी रात्रि में पड़ा-पड़ा अनेक प्रकार के कर्म, अकर्म और कुकर्मों के द्वारा संस्कार चक्रों का सृजन करने के रूप में अनेकों स्वप्न देखा करता है। जब काम, क्रोध, लोभ, मोह वृत्तियों का मुँह बाह्य विषयों से उलटकर इष्ट के रूप, गुण तथा नाम की ओर अन्तर्मुखी हो जाता है तो ध्यान और समाधि से जीवन में ज्ञान और वैराग्य स्वतः उद्भूत होते हैं। सन्त शिरोमणि तुलसी भगवान से यही प्रार्थना करते हैं कि हे कृपालु भगवन् मेरे मन को ऐसा बना दो जो कामी और लोभी का होता है किन्तु अन्तर इतना रखना कि कामी स्त्री में अनुरक्त रहता है उसी तरह मैं स्त्री में अनुरक्त न होकर आपकी मोहनी छवि को हरदम हृदय में निहारा करूँ। लोभी का मन जिस प्रकार धन का लोभी होता है उसी प्रकार मेरा मन आपके नाम रूपी धन का लोभी बन जाय।

मोर दास कहाइ नर आसा। (?)

मोरे जाप मम दृढ़ विस्वासा।
पंचम भजन सो वेद प्रकासा॥
कामिहि नारि पिआरि जिमि,
लोभिहि जिमि प्रिय दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तरहि,
प्रिय लागहि मोहि राम।

जब चित्त प्रभु के चित्त में लय हो जाय तो चित्त में छिपे हुए संस्कार घबराकर भाग जाते हैं। जीवन में वैराग्य भाव पुष्ट होता जाता है। ज्ञानदेव जी महाराज कहते हैं कि योगरूपी पिता और भक्तिरूपी माता से ज्ञान और वैराग्यरूपी बेटे पैदा होते हैं। भक्ति और योग-साधना करने पर यदि ज्ञान और वैराग्य नहीं हुआ तो साधना दिखावा या छल-प्रपंच या आडम्बर मात्र समझना चाहिए। वैराग्य आसक्ति की रस्सी को काट डालता है और ज्ञान अहङ्कार के सर्प के दांत उखाड़कर उसे विष रहित बना देता है। फिर यदि अहङ्कार रूपी सर्प किसी को डसता भी है तो उससे विषजन्य विकार नहीं होते अर्थात् नये संस्कार नहीं बनते। धीरे-धीरे प्राक्तन संस्कारों का विनाश होने लगता है और कर्माशय क्षीण होकर जीवन्मुक्त अवस्था प्राप्त हो जाती है।

वासना ही आवरण का असली स्वरूप है। वासना कर्मफल की चाह से चित्त में सुख दुःख के भोग की आकांक्षा के रूप में चित्त में रेखाङ्कित हो जाती है। वासना से कर्माशय बना करता है। हमने किसी पदार्थ का सेवन किया। मान लीजिये कि मधुर खीर खाई। खाने में मन लगाने पर मधुरता से हमारा मन रागासक्त हो गया और हमारे चित्त में खीर की चाह स्मृति के रूप में विद्यमान हो गई। समय-समय पर उसकी स्मृति हमें खीर की ओर खींचती है। यदि खीर प्राप्त नहीं हुई तो वही क्रोध का तथा अन्य पदार्थों से द्वेष का कारण भी बन जाती है। प्रत्येक कर्म चित्त में अपना संस्कार छोड़ जाता है। संस्कार नये कर्म को जन्म देते हैं और कर्मफल भोग वासना को बढ़ाती है, इस प्रकार कर्माशय बढ़ता जाता है। इसे ही योग-दर्शन के २/१५ सूत्र के भाष्य में महर्षि व्यासदेवजी महाराज 'संस्कार दुःखता' कहते हैं। शुभ और अशुभ कर्मों के सुख-दुःखात्मक परिणाम से चित्तवृत्ति अनेक रूप होकर कर्म-प्रवाह तथा कर्मफल भोग में व्यक्ति को प्रवृत्त करती रहती है। जो साधक गुरु शरणापन्न हो जाते हैं उन्हें संस्कार दुःखता की प्रतीति होने लगती है। विवेकी पुरुष के लिए समस्त जागतिक पदार्थ तथा कर्म-भोग दुःख रूप ही प्रतीत होने लगते हैं। अतः वह इनसे मुक्त होने के लिये चेष्टावान् बनता है। सांसारिक जीव इन्हें अपना भाग्य समझकर केवल भोक्ता बनकर पुरुषार्थ शून्य रहकर कोल्हू के बैल की तरह संस्कारों का भोग कर नये संस्कार पैदा करते रहते हैं।

कर्मफल भोगने के लिए ही जाति, आयु और भोग का विधान होता है। कर्मों के दो विभाग हैं—प्राक्तन कर्म और वर्तमान कर्म। अथवा बादरायणाचार्य के अनुसार प्रारब्ध कर्म और अनारब्ध कर्म, जिनका भोग हम भोग रहे हैं वह प्रारब्ध कर्म है और जिनका भोग देर से या भविष्य में भोगना शेष है, वे कर्म अनारब्ध कर्म कहलाते हैं। तीव्र संवेग, जैसे

विश्वासघात, हिंसा, गुरुजनों तथा माता-पिता का अपमान जैसे अगम्य कर्मों तथा शाप का परिणाम शीघ्र फलदायी होता है और इसी जन्म में भोगना पड़ता है। उसी प्रकार महापुरुषों का आशीर्वाद, जप, तप, समाधि तथा तीव्रतम पुण्यकर्मों का परिणाम भी सुख रूप भोग से इसी जन्म में भोगना पड़ता है। कर्मों का दूसरे प्रकार का विभाजन सञ्चित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण नामों से जाना जाता है। सञ्चित कर्म भोग में अभी न आने वाले पूर्व कर्मों के संस्कार हैं। प्रारब्ध भोग के लिए उपस्थित संस्कार हैं तथा क्रियमाण वर्तमानकालीन संस्कार भोगों के परिणामस्वरूप होने वाले कर्म हैं। अविद्या शक्ति से संस्कार नामरूप में जब प्रकट होते हैं तो उन्हें कर्म कहा जाता है। कर्म की शृंखला बदलती रहती है। उसी के अनुसार हमारे नामरूप बदलते रहते हैं। जैसे हमारे एक जन्म के संस्कारों के परिणामस्वरूप हमें मनुष्य जाति में जन्म मिल गया, राम, श्याम, मोहन आदि कुछ नाम मिल गया और सुन्दर आकृति मिल गई। जिनके साथ हमारे कर्मों का संस्कार भोग है वे वे प्राणी, भाई, पिता, बेटा, मित्र, शत्रु, सहायक या शत्रु के रूप में संस्कार भोग काल की अवधि तक हमारे साथ जुड़ गये। जैसे ही उनका कर्म संस्कार पूरा हुआ उनका सम्बन्ध भी टूट गया। फिर नये कर्म संस्कारोंवश हम शङ्कर, केशव आदि बन गये। अर्थात् हमारे नामरूप संस्कारों के भोग भोगने के लिये बदलते रहते हैं। एक ही शरीर में हम किसी के बेटे, किसी के पिता, किसी के भाई, किसी के मित्र, किसी के स्वामी और किसी के सेवक बन जाते हैं। एक साथ हमारे अन्दर कई प्रकार के कर्मों के संस्कार आते हैं, जिनका भुगतान तरह-तरह के नामरूपों के द्वारा होता रहता है।

सभी प्रकार के कर्मों से संस्कार राशि तैयार होती है। ये संस्कार प्रवृत्ति प्रधान तथा निवृत्ति प्रधान—दो रूप वाले होते हैं। ज्ञान और वैराग्य का आश्रय लेकर किये गये कर्मों से निवृत्ति प्रधान प्रारब्ध तैयार होता है तथा ऐसे कर्म स्मृति हेतुक संस्कार कहलाते हैं—

द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपा विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः।

—व्यास भाष्य ३/१८

निवृत्ति प्रधान संस्कार अपने स्वरूप की स्मृति के जनक होने के कारण धर्मरूप होते हैं तथा प्रवृत्ति प्रधान संस्कार अविद्या मलिनता के कारण अधर्म रूप होते हैं। धर्मरूप संस्कारों से ब्रह्मयज्ञ, तर्पण (पितृयज्ञ) देवयज्ञ, भूतयज्ञ तथा अतिथियज्ञ रूप कर्म सम्पादित होते हैं। सत्कर्मों का भोग या अधर्म का असत्कर्मों का भोग मनुष्य अकेले ही नहीं भोगता अपितु उस व्यक्ति को, उसके पुत्रों और प्रपौत्रों को भी भोगना पड़ता है। जैसा

भी कर्म हों, बिना भोगे नष्ट नहीं होता। भोगने का विधान अलग-अलग है। महाराज मनु जी कहते हैं—

> यदि नात्मनि पुत्रेषु,
> न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु।
> न त्वेव न कृतोऽधर्मः,
> कर्तुर्भवति निष्फलः॥
>
> —मनु० ४/१७३

अर्थात् शुभ या अशुभ कैसा भी कर्म किया जाय उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। खुद भोगना पड़े या पुत्रों तथा प्रपौत्रों को यह अलग बात है। जैसे हम आम का पेड़ लगाते हैं तो उसके फल हम भी खाते हैं और पुत्र-प्रपौत्र भी खाया करते हैं। महाभारत के शान्ति-पर्व में भीष्म और युधिष्ठिर का संवाद आता है—(१२६-२१)। भीष्म धर्मराज से कहते हैं—महाराज! व्यक्ति, कुटुम्ब, समाज तथा राष्ट्र के कर्मों का भोक्ता भी अंशतः या पूर्णरूपेण प्रत्येक मनुष्य होता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति तथा समाज को शुभ कर्म (यज्ञ, दान, धर्म, परोपकार) करने की प्रेरणा देना भी पुण्य संस्कार बनाता है। पुण्य, शुभ या सत्कर्मों के विषय में मतभेद हो सकता है। शुभ कर्मों की कसौटी यह है कि जिन कर्मों से वाणी, मन और प्राण पवित्र तथा तेजस्वी हों वे ही सत्कर्म हैं। बृहदारण्य के पंचम ब्राह्मण में देवताओं के सात अन्न माने गये हैं—खाद्य, पेय, होम, हवन, वाणी, मन तथा प्राण। उनमें वाणी, मन और प्राण आवरणक्षय करने में सहायक विशिष्ट अन्न हैं। ध्यान और समाधि द्वारा इन तीनों अन्नों की शुद्धि होती है, तब इनकी आहुति देकर यज्ञ पूर्ण होता है। जो कर्म वाणी, मन और प्राण को तेजहीन करें, विकृत करें वे ही पाप-कर्म हैं। स्वाध्याय ईश्वरोपासना तथा कर्मरत रहने से मनुष्य उत्त पराक्रम बना रहता है। प्राणों के द्वारा ही परमात्मा से एकत्व होकर सकल ऐश्वर्य-युक्त बनता है। ब्रह्मचर्य, सात्विक अन्न, नियमित व्यायाम, प्राणायाम, ध्यान, समाधि तथा यज्ञादि साधनों से प्राणशक्ति का विकास होता है, जिससे मन, बुद्धि और शरीर इष्ट देवता के समान ओजस्वी तथा तेजस्वी बनते हैं। ऐसा ब्रह्मवर्चस्वी मनुष्य अपना तथा समाज का उद्धार करने में समर्थ होता है।

सृष्टि में मनुष्य से भिन्न अन्य प्राणी अपने संस्कारों के अनुसार निमित्त के वश में होकर कर्मभोग भोगने में परतन्त्र होते हैं। मनुष्य को यदि नियति के आधीन मान लिया जाय तो मोक्ष की इच्छा और पुरुषार्थ का कोई प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होगा। अन्य प्राणी इन्द्रिय या मन स्तर के होते हैं। मनुष्य चित्त तथा बुद्धि प्रधान प्राणी है। अन्य प्राणी भूख लगने पर जो भी खाद्य हो उसे उसी रूप में स्वीकार कर क्षुधा निवृत्ति करते हैं, किन्तु मनुष्य चाहे तो भूख का निग्रह कर प्राण त्याग तक कर देता है अथवा खाद्य वस्तु को अनेक प्रकार का

रूप देकर जैसे गेहूं को आटा बनाकर उससे रोटी, पूड़ी, कचौड़ी आदि बनाकर बुद्धि के द्वारा नैसर्गिक वस्तु का रूपान्तर कर उपयोग करता है। मनुष्य प्रारब्ध के पूर्ण आधीन नहीं है। ज्ञान-दशा या अज्ञान-दशा में कर्म की प्रेरकशक्ति तो आत्मा तथा प्राण ही है। बिना पुरुषार्थ के अवश्यमेव भोगने वाले कर्म प्रारब्ध हैं। प्रारब्ध कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। पुरुषार्थ करने पर प्रारब्ध को बदला जा सकता है। जीवन्मुक्तावस्था में सिद्ध पुरुषों के सारे कर्म तथा व्यवहार लौकिक पुरुषों की भाँति ही होते हैं तो भी उनके कर्म-बन्धन के कारण नहीं होते, क्योंकि वे योगस्थ होकर संग-रहित फलाकांक्षा छोड़कर केवल इन्द्रियों से कर्म करते हैं। यदि कोई कर्म-बन्धन में पड़ने के भय से कर्म ही न करे तो क्या प्रारब्ध के भोग से बच सकता है? कर्मों के क्षय के लिए उसे कर्म तो करने ही पड़ेंगे। पाप-कर्मों के क्षय के लिए उसे पुण्य-कर्म करने पड़ेंगे, इसी का नाम साम्यावस्था है। बुद्धि जब पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म सब में पक्षपात रहित एक जैसी हो जाती है तो वह कर्तापने के अभिमान से शून्य बन जाती है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

इहैव तैर्जितः सर्गो
येषां, साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म,
तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः॥

—गीता ५/१९

अर्थात् इस संसार को जीतने का उपाय यही है कि कर्तापन अभिमान से रहित हो जाय। जब तक किसी में चाह रखते हैं तो हम पक्षपाती होते हैं और कर्मफल के हेतु बन जाते हैं, यही कर्तापने का अभिमान है। जब हमारा मन तथा हमारी बुद्धि सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को एक जैसा मानकर स्वीकार कर लेते हैं तो फिर कर्म हमें सुख-दुःख से प्रभावित नहीं करते। साम्यावस्था में साधक गुणातीत होकर निर्गुण ब्रह्म के समान निर्दोष बन जाता है, ब्रह्म सम स्थिति पाता है। गोस्वामी जी कहते हैं—

"यद्यपि सम नहिं राग न रोसू।"

गीता में भी कहा है—

समोऽहं सर्वभूतेषु।

उस अविकारी ब्रह्म में भक्त अपनी श्रद्धा तथा उपासना से विकार पैदा करता है। उसमें भक्त का दुःख दूर करने की करुणा का और राग का संचार होता है तथा अन्यायों को नष्ट करने के लिए रोष का संचार होता है। ज्ञानी स्वयं मुक्त होना चाहता है, किन्तु भक्त प्रभु को अपने समान ही बन्धन में आने के लिए प्रेरित करता है, यही अवतारवाद का रहस्य है। ज्ञानदशा में ईश्वर सम है, किन्तु कर्मदशा में उसकी प्रेरणा सत्कर्म की ओर होने से वह पक्षपाती बनता है। जीवन्मुक्तावस्था में यद्यपि कर्म की आवश्यकता नहीं रहती तथापि मुक्त पुरुष लोक-संग्रह के लिए

करुणावश कर्म करते रहते हैं। यह लोक-संग्रह की इच्छा अन्य साधकों पर कृपा करने तथा उनका पथ-प्रदर्शन करने के उद्देश्य से होती है।

आवरण मनुष्य का कर्म संस्कार स्वयं है। जब तक स्वरूप बोध और स्वरूप स्थिति नहीं है तब तक नाना कर्मों में भटकना पड़ता है। जैसे अग्नि धुएँ से आवृत है, दर्पण धूल से तथा गर्भ जर्म थली से, उसी प्रकार शुद्ध चेतन वासनाजन्य अज्ञान में ढका रहता है। कामनायें और वासनायें इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि को अज्ञान से विमोहित कर लेती हैं और शुद्ध चेतन कर्म शृंखला तथा संसार-चक्र में घूमने लगता है।

इन्द्रियाणि मनोबुद्धि,
अस्याधिष्ठान मुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष
ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

—गीता ३/४०

अतः इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिके आवरण को नष्ट करने के लिए निष्काम कर्म तथा परोपकाररत होकर लोक-संग्रह के कर्म करते रहना चाहिए। जब बुद्धि साम्यावस्था में स्थित हो जाती है तो स्वार्थी कर्म छूट जाते हैं। ऐसे कर्म-बन्धन के कारण नहीं होते। जब तक मनुष्य इन्द्रिय और मन के स्तर पर जीता है, तब तक वह अपने को भाग्य या नियति का खिलौना मानकर असहाय समझा करता है। वह मानता है कि उसकी इच्छा तथा उसके प्रयत्न और फलभोग सब कुछ प्रारब्धाधीन है। वह कुछ भी करने में स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु जब वह विचार, विवेक तथा इष्ट की बुद्धि और चित्त में अपनी बुद्धि और चित्त को समर्पित कर इष्ट-बुद्धि तथा चित्त के स्पन्दन से कर्म करता है तो वह अपने को कर्म-संस्कार से मुक्त अनुभव करने लगता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी की हत्या कर देता है तो वह पाप और दण्डनीय अपराध माना जाता है, किन्तु कोई सैनिक अपने अधिकारी के आदेश से शत्रु का वध कर देता है तो दण्ड के बजाय पुरस्कार प्राप्त करता है। कर्म की दृष्टि से दोनों प्रकार के कर्म में प्राणि-हिंसा हुई, किन्तु उद्देश्य भिन्न होने से फल में अन्तर हो गया। एक कर्म स्वार्थ से, अपनी हिंसक वासना की पूर्ति के रूप में किया गया। दूसरा कर्म परार्थ, कर्त्तव्य-पालन की दृष्टि से कर्तृत्व शून्य होकर किया गया। यद्यपि मनुष्य की बुद्धि भी उन्हीं जड़ उपादानों से निर्मित है, जिन त्रिगुणात्मक प्राकृत उपादानों से मानव शरीर तथा उसकी इन्द्रियों का निर्माण हुआ है। तथापि इच्छा और प्रयत्न तथा फल प्राप्ति में वह उसी प्रकार स्वतन्त्र है जिस प्रकार नाव यद्यपि जल के अन्दर ही चल पाती है तथा उसकी गति पानी के बहाव के विपरीत भी की जा सकती है। पानी के आधीन होने पर भी नौका को गति के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता है। मानव-

बुद्धि प्रारब्ध के अधीन होते हुए भी नियमं नियमों में बंधकर चलने वाली नहीं है। स्वार्थ में बुद्धि प्रारब्ध के आधीन हो जाती है और परमार्थ मार्ग के लिए वह स्वतन्त्र होती है। कर्मभोग का प्रवाह उसे विषयोपभोग की ओर ले जाना चाहता है; किन्तु प्रेय से मुड़कर श्रेय की ओर चलने में कर्म प्रवाह बाधक भले ही बने पूर्णरूप से सफल कभी नहीं हो सकता। प्रेम, निष्ठा और श्रद्धा से कठिन श्रेय सुगम बन जाता है और प्रारब्ध कर्म क्षीण हो जाते हैं। जो पुण्यात्मा संस्कार-चक्र के इस रहस्य को जान जाते हैं, वे उपासना में पूरी लगन से जुट जाते हैं। उपासना से मनमें दिव्य सामर्थ्य तथा ईश्वरीय प्रेरणा, निरहङ्कार, समताभाव स्वतः विकसित होते चले जाते हैं। उसी सामर्थ्य से वह कर्म प्रवाह के अवरोधों को हटाता हुआ तितिक्षा तथा तप से अपने श्रेय की ओर तीव्रता से बढ़ता चलता है। बुद्धि की सामर्थ्य के साथ-साथ भावना के विकास से उपासना में शीघ्र सफलता मिलती है। कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों का एक साथ अवलम्बन लेकर इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि के आवरण नष्ट होते हैं। मनुष्य अभ्युदय तथा निःश्रेयस, श्रेय तथा प्रेय एक साथ प्राप्त कर धर्म के मूल तत्व को प्राप्त कर लेता है। जिसने अपनी इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि के आवरण कर्मयोग, भक्तियोग तथा ज्ञानयोग द्वारा विनष्ट कर दिये हैं वही सही अर्थों में धार्मिक व्यक्ति है।

भगवान् पतंजलिदेव ने कर्म संस्कार-चक्र को निरोध करने का उपाय समाधि लाभ माना है। जब साधक श्रीसद्गुरुदेव की अपार करुणाकृपा से चित्त की एकाग्रता सम्पादित कर समाधिनिष्ठ हो जाता है तो क्रमशः विचार, वितर्क, आनन्द तथा अस्मितानुगत, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार की विभिन्न भूमियों पर स्थूल, प्रपञ्च, प्रकृति के गुणों तथा तज्जन्य कर्म संस्कारों का साक्षात्कार कर गुणों तथा उनके धर्म एवं परिणामों से निरपेक्ष हो जाता है। योगी में सत्त्वगुण का पूर्ण विकास होने से पूर्ण प्रकाश होता है। उस प्रकाश में वह जड़ और चेतन की गांठ खोलने में समर्थ हो जाता है। समाधि के अभ्यास से योगी में ऋतम्भरा प्रज्ञा उदित होती है, जिसमें यथार्थानुभव तथा यथार्थ ज्ञान होता है। उस प्रज्ञा के द्वारा जो संस्कार चक्र बनता है, वह योगी के सारे क्लेश कर्म संस्कार चक्र को रोक देता है। जैसे कहीं उपद्रव हो रहे हों, वहां कर्फ्यू लागू होने पर सारे कर्म स्वतः रुक जाते हैं अथवा राष्ट्रपति का अध्यादेश जारी होने पर प्रचलित नियम व्यवस्था तत्काल बदलकर अध्यादेश के अनुसार नियम व्यवस्था कर दी जाती है। भगवान् पतंजलिदेव कहते हैं—

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ।

इस सूत्र के आशय को महर्षि व्यास स्पष्ट करते हैं—

समाधिप्रज्ञाप्रभवः संस्कारो व्युत्था-

नसंस्काराशयं बाधते व्युत्थानसंस्काराभिभवात्तत्प्रभवाः प्रत्यया न भवन्ति । प्रत्ययनिरोधे समाधिरुपतिष्ठते । ततः समाधिजा प्रज्ञा ततः प्रज्ञाकृतः संस्कारा इति नवो नवः संस्काराशयो जायते । ततः प्रज्ञा ततश्च संस्कारा इति । कथमसौ संस्कारातिशयश्चित्तं साधिकारं न करिष्यतीति न ते प्रज्ञाकृताः संस्कारा क्लेशक्षये हेतुत्वात् चित्तमधिकारविशिष्टं कुर्वन्ति । चित्त हि ते स्वकार्यादवसा यन्ति । ख्यातिपर्य्यवसानं हि चित्तचेष्टितमिति ।

अर्थात् समाधि निष्ठा से जो विशुद्ध सत्व प्रधान बुद्धि के अन्दर प्रकृति पुरुष विषयक यथार्थानुभव एवं ज्ञान के नये-नये संस्कार बनते हैं उनसे योगी के प्रारब्ध तथा संचित कर्मों के आशय का उन्मूलन हो जाता है। व्युत्थानदशा के पुण्य-पाप के संस्कार फिर नहीं बनते, क्योंकि कर्माशय तो बाधित हो चुका। इसीलिए सिद्धपुरुष निरन्तर समाधि में बने रहते हैं क्योंकि उनके व्युत्थान के संस्कारों का कर्माशय रहता ही नहीं। ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कार अविद्या-अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश रूप पंच क्लेशों को नष्ट कर ,दिया करते हैं, जिससे चित्त साधिकार नहीं रहता। जैसे कूप खोदने का प्रयोजन पूरा होने के बाद कुदाली फावड़ा आदि उपकरण दूर कर दिये जाते हैं उसी प्रकार चित्त भी कर्माशय के अभाव हो जाने पर निष्प्रयोजन हो जाने से प्रकृति के गुणरूप कारण में लीन हो जाता है। चित्त के कार्य विवेक ख्याति पर्यन्त ही रहते हैं। विवेक होते ही मोह और भ्रम भाग जाते हैं और स्वरूप स्थिति हो जाती है। गोस्वामी जी इसी स्थिति को सरल शब्दों में कहते हैं—

होइ विवेक मोह भ्रम भागा।
तब रघुनाथ चरण अनुरागा॥

इस प्रकार जब निरोध संस्कारों का प्रवाह चल पड़ता है तो कर्मावरण का नाश हो जाता है। पूर्णतया कर्माशय का नाश होने पर कर्मों का चक्र मिट जाता है। जैसे तुलसीदास जी ने संकेत किया है—

कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हें।

काम, क्रोध, लोभ, मोह सभी उसी तरह अलग हो जाते हैं जैसे वृक्ष से टूटकर पीला-पत्ता अलग हो जाता है। जब तक निरोध संस्कारों के द्वारा विवेक तथा वैराग्य पूर्णता को प्राप्त नहीं हुए तब तक अस्मि प्रत्ययात्मक अर्थात् सूक्ष्म सतोगुणी अहङ्कार के ज्ञानात्मक संस्कार (ज्ञानवासना) बीच-बीच में जुगनू की तरह चमकते रहते हैं। भगवान पतंजलि कहते हैं—

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्त-
राणिसंस्कारेभ्यः ॥२७॥

प्रकृति और पुरुष के यथार्थज्ञान की ओर

एक दिन की बात—

श्री दर्शनानंद

करुणा-निधान श्री गुरुदेव भगवान सवाई आश्रम पर ही विराजमान थे। वैशाख और जेठ मास के बीच का मौसम था। सूर्य किरणों की कठोरता और तीव्रता ने भूतल और अन्तरिक्ष दोनों पर असहनीय गरमाहट उंडेल रक्खी थी। समय यद्यपि प्रातः लगभग दस बजे का था फिर भी धूप की तेजी ने इस बेला को ठीकाठीक ऐसी दोपहरी का रूप दे रखा था, जिसकी तीव्रता और असहनीयता से टकराकर कविवर बिहारी के शब्दों में आदमी बेचारे की तो बात ही क्या है—'छांहहुँ चाहत छांह' जैसी स्थिति हो रही थी। श्री गुरुदेव भगवान भी आश्रम की सघन वृक्षावलि के एक निकुंज के नीचे लगे अपने आसन से उठकर गुरु भवन में अपने पर्यङ्क पर जा विराजे थे। वे योग निद्रा के रूप में क्षणिकविश्राम लेने की तय्यारी कर ही रहे थे कि इसी बीच गुरु-भवन में एक अति-दूर से आये पंजाबी दम्पति ने जिनके साथ उनकी दो बालिकायें भी थीं, गुरु भवन में प्रवेश किया। पत्र पुष्प फल आदि अपने गुरुदेव के चरण-कमलों में अर्पित करने के पश्चात्

(पिछले पृष्ठ का शेष)

निरन्तर चलने वाले निरोध संस्कारों के प्रवाह के बीच-बीच में दग्ध कपड़े की तरह अस्मितानुगत संस्कार आते जाते रहा करते हैं। जब पूर्णरूप से पर वैराग्य जन्य विवेक ज्ञान हो जाता है तो धर्ममेघ समाधि हो जाती है।

ततः क्लेश कर्मनिवृत्तिः ॥४/३०॥

धर्म मेघ समाधि में निरन्तर अखण्ड ज्ञान का प्रवाह मेघ की तरह बरसता रहा करता है जिससे अविद्यादि क्लेश तथा पुण्यपाप कर्मों की सदा सर्वदा के लिए निवृत्ति हो जाती है और योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। समाधि की ओर अभिमुख होने पर संस्कार चक्र तीव्रता से चल पड़ता है। हमारा कर्मों का खाता जब खुल जाता है तो कर्म चक्र का भुगतान तीव्र हो जाता है। संचित कर्म भी प्रारब्ध बनकर तुरन्त फल देने वाले बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में साधक घबरा उठता है जो श्री गुरुदेव के चरण-कमलों की कृपा शरण प्राप्त हो जाते हैं वे क्लेश कर्मों के विकट भोगों के आने पर विचलित नहीं होते। उन्हें अपना समझकर प्रसन्नता से भोग कर शीघ्र समाप्त करने में ही अपना कल्याण समझते हैं। जो सद्गुरु के शरणापन्न हो जाते हैं उन्हें वे योग स्थिति प्रदान कर कर्मों को सूक्ष्म रूप से भोगने की कला भी सिखा देते हैं।

[श्री लाल बहादुर शास्त्री, विश्वविद्यालय
दिल्ली

वे सभी अनुमति पाकर नीचे फर्श पर बैठ गये। पसीने से सभी लथ-पथ हो रहे थे। थोड़ी देर में जब वे मार्ग की तपन और ऊष्मा से वे कुछ चैनसा अनुभव करने लगे, तब श्री गुरुदेव ने उनको भोजनालय में जाकर प्रसाद पा लेने का आदेश दिया, किन्तु वे घर से भोजन करके चले थे इसलिए उन्होंने, भोजन न करने के लिए क्षमा-याचना करते हुए अपनी व्यथा कथा कहनी आरम्भ करदी।

पति महोदय ने श्रीगणेश किया। पत्नी ने बात को आगे बढ़ाते हुए उसे विस्तार दिया और निवेदन किया—दयानिधान! बड़ी परेशानी है, यह जो दो बच्चियां साथ में है उनमें से बड़ी ने एम० ए० की परीक्षा दे दी है। अब इसके लिए सुयोग्य वर की तलाश है, अनेक स्थानों पर गये है, बातचीत भी चली है किन्तु सफलता नहीं मिल पा रही है। ऐसा प्रसाद और आशीर्वाद देने की कृपा कीजिए कि जिससे यह काम ठीक ढङ्ग से ठीक जगह शीघ्र सम्पन्न हो जाय।

सहज कृपालु-दयासागर गुरुदेवजी महाराज ने अभिमंत्रित रज-प्रसाद तो उन्हें दे ही दिया लेकिन उस बच्ची को जिसके विवाह की बात शीघ्र तय हो जाने के लिए प्रसाद की याचना की गई थी उन्होंने आगे अपने पास बुलाया और उसके सिर पर अपना वरदहस्त फेरते हुए कहा—कितनी सुन्दर सुशीला, गुणवती मुनिया है यह। कितने खेद की बात है कि ऐसी गुणवता, सुशीला सुन्दर पुत्रियों को भी सुयोग्य वर मिलने में मां-बाप को परेशानी और कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है अगर दैवयोग से योग्यवर मिल भी जाता है तो दहेज के नाम पर इतनी धनराशि मांगी जाती है कि जिसकी पूर्ति एक सद्गृहस्थ को कर पाना नामुमकिन ही रहता है। वर-विक्री का खुला और अशोभनीय सौदा लड़कों के मां-बाप लड़की वालों से करने में आज कोई हिचक नहीं करते!

समाज की आज की दहेज-प्रथा पर अपनी कड़ी चोट करते हुए श्री महाराज इतना कहकर चुप हो गये। कुछ क्षण रुककर वे फिर बोले—विवाह दो आत्माओं का पवित्र बंधन होता है देखना है धन लिप्सा की यह कालिमा इस पवित्र संस्कार से कब कैसे हट पाती है!

गुरु-भवन के वातावरण में एक अनुपम शान्ति और नीरवता छाई हुई थी, आगन्तुक आशीर्वाद और प्रसाद प्राप्त करके उस कमरे में चले गये जो उन्हें ठहरने के लिए बताया गया था।

इन पंक्तियों के लेखक ने अनुभव किया कि लोक-कल्याण की भावना से समाज में व्याप्त किसी भी कुप्रथा को जिससे सुसंस्कृत भारतीय समाज की सारी व्यवस्था ही ध्वस्त हो जाय—कोई भी सन्त, योगी या सिद्धयोगी कैसे अनदेखा कर सकता है। श्री गुरुदेव भगवान ने वर-विक्रय व्यापक पैमाने पर जगह-जगह हो रहा है यह कह कर आज की वस्तु स्थिति का सटीक सही चित्रण ही किया था।

गुरु-भक्ति

श्री रामयश उपाध्याय

इतः पूर्णं ततः पूर्णं,
पूर्णात्पूर्णं परात्परं ।
पूर्णानन्दं प्रपद्येऽहं,
गुरुं श्री चन्द्रमोहनम् ।

सभी धर्मों, संस्कृतियों और सभ्यताओं में गुरु-भक्ति की महिमा सचमुच ही सर्वोपरि है। प्रायः सभी शास्त्रकारों ने गुरु के दर्जे को सर्वोच्च एवं महत्वपूर्ण बताया है। कठोर श्रम करके एवं विविध कष्टों को भोगकर भी जो दुर्लभ ज्ञान लोग नहीं प्राप्त कर सकते, वह सहज में ही गुरु-भक्ति एवं गुरु-सेवा के आशीर्वाद से प्राप्त हो जाता है। गुरु शब्द की रचना "गु" तथा "रु" शब्द के संयोग से हुई है। 'गु' का अर्थ है अन्धकार और 'रु' का प्रकाश।

गुशब्दस्त्वन्धकारोऽस्ति,
रुशब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकार निरोधित्वाद्,
गुरुरित्यभिधीयते ।

सद्गुरु शिष्य को मोहरूपी तमोमयी रात्रि से निकालकर ज्ञानरूपी प्रभातकालीन प्रकाश का दर्शन कराता है तथा अनुरूप मार्ग का अनुसरण कराकर जीवन के लक्ष्य के प्रति शान्ति एवं आनन्द का रसास्वाद कराते हुए मुक्ति-मार्ग की ओर ले चलता है, ऐसे सद्गुरु की महिमा अनन्त है। उनके द्वारा किये गये उपकारों की गणना असम्भव है। गुरुदेव ने कृपा की, अनन्त चक्षुओंको खोल दिया, अनन्त चक्षुओं के खुलते ही उस अनन्त और असीम के दर्शन हो गये—"सतगुरु की महिमा अनन्त अनन्त किया उपकार लोचन अनंत उघाड़िया, अनन्त दिखावण हार।" कबीर के मन में बड़ी कसक है कि गुरु के इन उपकारों को कैसे चुकाऊँ। कबीर की गुरु-भक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है, वे गुरु-भक्ति में इतने विह्वल हो जाते हैं कि गोविन्द से पहले गुरु की ही वंदना करते हैं—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागों पाँय।
बलिहारी गुरु आपनो गोविन्द दियो बताय ॥

फिर जो भी कोई वस्तु कबीर को अपनी गुरु-भक्ति में सहायक सिद्ध हुई है, उसको वे सादर सहर्ष स्वीकार करते हैं। सौ कण्ठ से उसके गीत गाते हैं और सौ-सौ बार उनके चरणों पर सिर झुकाते हैं। इसके विपरीत जो भी वस्तु उनकी भक्ति में बाधक है, उसका सौ-सौ हाथोंमें सौ-सौ डण्डे लिये हुए तिरस्कार और बहिष्कार करने में भी वे चूके नहीं।

पौराणिक आख्यानों में आरुणि एवं उपमन्यु की कथा प्रसिद्ध है, जिन्होंने अपनी गुरु-भक्ति द्वारा गुरु आशीर्वाद से सर्व-विद्या-सम्पन्न हो, बहुत ही उच्च स्थान प्राप्त कर लिया था। एक बार धौम्य ऋषि ने अपने नवीन शिष्य

आरुणि को खेत की मेंड़ बाँधने का आदेश दिया था, जिसे आरुणि ने अपने प्राणों की परवाह न करके उसे पूरा किया। आरुणि के जब और सब प्रयत्न विफल हो गये, तब वह स्वयं ही वहाँ लेट गया। इस प्रकार उसके शरीर से पानी का प्रवाह रुक गया। बाद में धौम्य ऋषि उसे खोजते-खोजते वहाँ पहुँचे तो शिष्य की अद्भुत भक्ति देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उसे हृदय से लगाकर आशीर्वाद दिया कि समस्त वेदशास्त्र तुम्हें बिना पढ़े ही आ जावें। लोक-परलोक में तुम्हारी गुरु-भक्ति विख्यात होगी एवं तुम उद्दालक ऋषि के नाम से विख्यात होगे। इसी तरह उपमन्यु ने भी गुरु-भक्ति द्वारा आशीर्वाद प्राप्त कर उच्च स्थान प्राप्त किया। हिन्दू धर्म-रक्षक वीर छत्रपति शिवाजी की अनुपम गुरु-भक्ति प्रसिद्ध ही है। एक बार वे अपने प्राणों की भी परवाह न करके अपने गुरु समर्थ योगिराज श्री रामदास जी के दुख की चिकित्सा के हेतु जङ्गल से सिंहनी का दूध लाये थे। इस पर प्रसन्न होकर गुरुजी ने उन्हें आशीर्वाद दिया, जिसके प्रताप से ही उन्होंने हिन्दू जाति, धर्म एवं संस्कृति के रक्षक होकर उसका सिर ऊँचा किया। इतना ही नहीं, एक बार शिवाजी ने गुरु-भक्ति के आवेश में अपना सारा राज्य गुरु जी को अर्पण कर दिया था, जिसे समर्थ ने शिवाजी को सम्हाल करने के लिए लौटा दिया था। एकलव्य मन ही मन द्रोणाचार्य को अपना गुरु मानकर उनकी मिट्टी की प्रतिमा से ही सब कुछ सीखकर अर्जुन के समान नामी धनुर्धर हो गया। यह उसकी गुरु के प्रति सच्ची निष्ठा का ही फल था।

वर्तमान समय में जन-मानस में व्याप्त ग्रन्थ 'रामचरित मानस' गुरु-भक्ति की महिमा से भरा हुआ है। रविकुल चूड़ामणि गोस्वामी श्री तुलसीदास जी ने ग्रन्थारम्भ में ही गुरु की वन्दना श्लोक में, सोरठे में, पुनः चौपाइयों में करके यह सिद्ध कर दिया है कि बिना गुरु-कृपा के कोई कार्य सम्भव नहीं। रामचरित मानस की रचना के मूल में गुरु-प्रेरणा ही परिलक्षित होती है। जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी,
कथा जो सूकर खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन,
तब अति रहेउँ अचेत॥

सद्गुरु बाबा नरहरिदास ने उन्हें बार-बार श्री राम की कथा को समझाया—

तदपि कही गुरु बारहिं बारा।
समुझि परी कछु मति अनुसारा॥
भाषा बद्ध करब मैं सोई।
मोरें मन प्रबोध जेहिं होई॥

इस चौपाई में यह अभिप्राय वर्णित है कि अगर गुरु तत्ववेत्ता और दयालु हो तो शिष्य को चाहे जैसा ही वह मूढ़ हो, बार-बार उपदेश देकर बोध करा ही देते हैं। इस तरह

तुलसीदास जी अपने गुरु महाराज को ज्ञाननिधि और परम दयालु सूचित करते हैं। साथ ही अपने गुरु का किसी से मानस पढ़ना न कहा, क्योंकि गुरु साक्षात्कार भगवान् हैं, इसी लिये किसी का शिष्य होना न कहा। शिष्य का धर्म है कि अपने गुरु को किसी से लघु न माने। यथा—

मोते गुरहि अधिक जिय जानी।
सकल भाव सेवहिं सनमानी॥

और इसीलिए तुलसीदास अपने रामचरित मानस में ईश्वरावतार (श्री रामावतार) के प्रथम श्रीगुरु अवतार का सांकेतिक वर्णन करते हैं। श्री रामावतार रावण-वध हेतु हुआ, पर स्थूल रावण के विनष्ट होने पर भी क्या रावणत्व समाप्त हो गया? दशहरे के पर्व पर किसी ने ठीक ही कहा—

हर साल बड़े शान से मनाते हैं दशहरा।
कैसा है जो रावण जो अब तक नहीं मरा॥

रावण-वध से सभी देवता प्रसन्न होकर भगवान् राम की स्तुति करते हैं—

यह दुष्ट मारेउ नाथ, भये देव सकल सनाथ।

पर सबके जाने पर भगवान् शिव आते हैं और उनकी प्रार्थना ही रक्षा-शब्द से शुरू होती है—

मामभिरक्षय रघुकुल नायक।
धृतवर चाप रुचिर कर सायक॥

तर्क उठता है कि असुरता की धारणा तो रावण से ही थी, अब वही नष्ट हो गया तो रक्षा की प्रार्थना की क्या आवश्यकता है। पर तभी भगवान् शंकर की वाणी आगे बढ़ती है और ध्वनि निकलती है—'मोह महा घन पटल प्रभंजन।' तो रामचरित मानस में यह मोह ही रावण का प्रतीक है और स्थूल रूप में रावण के नष्ट होने पर भी जब तक समाज से मोह दूर नहीं होता तब तक समाज का कल्याण नहीं हो सकता और इसके विनाश के लिए आवश्यकता है श्री गुरु महाराज की। अतः श्री गुरु अवतार महा मोह के नाश के लिये हुआ। महा मोह ही रावण है, यथा—'महा मोह रावण विभीषण ज्यों हयो है।' श्री राम जी ने बाण से रावण का वध किया। यहां वचन ही रावण है, यथा—"[illegible] वचन सर नाना" वचनसे महामोह का नाश किया। श्री रामजी के बाण की रवि की उपमा दी है, यथा—"राम बान रवि उये जानकी।" यहां गुरु के वचन को 'रवि निकर' की उपमा दी। पुनः गुरु में यह विशेषता है कि रावण ने दूसरों को वश में किया पर स्वयं मोहके वशमें रहा। गुरु ने ऐसे प्रबल शत्रु मोह का नाश किया। अतः सद्गुरु सत्ता अद्वितीय सत्ता है और सद्गुरु परब्रह्म के तुल्य हैं। इनकी समता का दूसरा कोई नहीं है। पञ्च-पूजन में जिस प्रकार प्रधान देवता को बीच में बिठाया जाता है, उसी प्रकार वन्दना के मध्य में गुरु की वन्दना कर गोस्वामी जी ने गुरु का दर्जा ईश्वर से भी बड़ा बताया है—

"राखइ गुरु जौं कोप बिधाता।
गुरु बिरोध नहिं कोउ जग त्राता॥

कहकर उन्होंने गुरु की महानता सिद्ध की है।

—00—

श्री प्रभुनाम चमत्कार

❁ श्री कृष्णकुमार पाण्डेय

प्रस्तुत लेख में परम कल्याणप्रद श्री गुरुदेव भगवान् की कृपा से "ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः" के अद्भुत चमत्कार का निरूपण किया गया है। कैसे श्री कृपा सागर ने बंबई में बैठे हुए बस्ती जिले के एक छोटे से ग्राम में रहने वाले अपने एक साधना साधक के भाई की रक्षा की, एवं क्योंकि उसमें इसका उल्लेख किया जा रहा है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने "रामचरित मानस" में लिखा है—

कलियुग केवल नाम अधारा।
सुमिर-सुमिर नर उतरहिं पारा॥

अर्थात् इस कलिकाल में आर्त-पुरुषों के लिए नाम ही एक महौषधि है। इसी के सहारे बड़े से बड़े समुद्र को सहज ही पार किया जा सकता है। परम अहैतुकीनाथ श्री सद्गुरुदेव भगवान का यह आदेश है कि खूब नाम जप करो, इसी से कल्याण हो जायेगा। एक बार आश्रम पर ज्यादा दिन रुकने का अवसर मिला। सुबह-शाम श्री चरणारविन्द के दर्शन होते रहते थे। एक दिन साधक समुदाय घेर कर बैठा था। प्रभु गुरुदेव भगवान् सुन्दर सिंहासन पर विराजमान थे। नाम-महिमा की बात चल रही थी। किसी ने पूछा—हे नाथ! क्या महाप्रभु के स्थूल दर्शन हो सकते हैं? श्री कृपायतन गद्गद् कण्ठ से बोले—बिल्कुल दर्शन हो सकते हैं। पुनः पूछा—कैसे? श्री गुरुदेव भगवान् ने उत्तर दिया—स्वाध्याय से। साधक जिज्ञासु था, पुनः पूछा—स्वाध्याय क्या है? प्रभुवर गम्भीर वाणी में बोले—उस परम दीनदयालु के नाम का श्रद्धा से जप करना ही स्वाध्याय है। आगे इसी आह्लाद में बोले—कोई प्रभु नाम का जप करता है तो उसे आसन करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह मन्त्र अग्नि तत्व है। साधक अतिशय श्रद्धा के साथ यदि नाम जप करता है तो इससे शरीर के सारे मल जलकर दग्ध हो जाते हैं। उस साधक को उस काल में तीन जगह से शक्ति प्राप्त होती है। सर्वप्रथम गुरुदेव की शक्ति, द्वितीय इष्टकी शक्ति, तृतीय उस मन्त्र को सिद्ध करने वाले सिद्ध की शक्ति अवश्य ही मिलती है। धीरे-धीरे नाम जप ही साधक के अंतरंग कल्याण का कारण बन जाता है। उन दीनबन्धु के ये आप्त-वाक्य उस समय समझ में आये, जब इन विषयी आँखों ने नाम चमत्कार को प्रत्यक्ष देखा।

प्रभु नाम महिमा की एक अद्भुत घटना अभी इसी वर्ष फरवरी माह में देखने को मिली। श्री प्रभु चरणारविन्द में अगाध श्रद्धा रखने वाले एक साधक के घर की घटना है।

जहाँ आने का एक ऐसा अवसर मिला। वे परम कृपालु अपने बालक को किस प्रकार मान देते हैं समझ में नहीं आया। साधक अभी श्रीचरणों में लौकिक रूप से दीक्षित नहीं है, परन्तु प्रभु से किसी के बताने पर सहज ही आकर्षित हो गया। तब से श्रीचरणों में आने का अवसर प्राप्त होता रहता है। बार-बार के आने-जाने से स्पर्श एवं दृग दीक्षा तो अवश्य ही हो गई। श्री दीनबन्धु का एक करुण-कटाक्ष दीक्षा का ही कारण बन जाता है। इसी आधार पर साधक श्रीप्रभुजी के पावन स्वरूप को साथ में रखकर सुबह-शाम आरती-पूजन करता रहता है। इस आरती-पूजन से तो लौकिक जीवन में साधक को सद्यः फल मिलता रहता है, जिससे श्रद्धा अतिशय प्रगाढ़ होती रहती है। अब तो ऐसा लगता है कि यदि आग में उँगली पड़ जाय तो यही मुँह से निकलता—यह परम कल्याणघन जहाँ है वहाँ अग्नि क्या कर सकती है। जैसे प्रह्लाद भीषण अग्नि से रक्षित हो गया, जिसका कारण प्रभु में उसका विशिष्ट प्रेम था।

एक दिन साधक का छोटा भाई जिसकी कोई विशेष श्रीचरणों के प्रति श्रद्धा न थी, लेकिन साधक के साथ कुछ विलक्षण घटना होने से मन में यह भावना तो अवश्य थी कि रक्षक तो इसके प्रभु जी हैं, हम लोगों का क्या होगा। खैर इतना भी सोचना कल्याण का हेतु बन ही जाता है। छोटा भाई किसी काम से अपने गाँव के पास वाले गाँव में अपने बीमार नौकर को देखने गया था। कुछ देर उसके निदान वगैरह में लगा रहा, जिससे रात के लगभग ९ बज गये। वह वहाँ से चल पड़ा, वहाँ से चलने के दो मार्ग थे। उसने विचार किया कि यदि सड़क वाले मार्ग से जाते हैं तो कुत्ते परेशान करेंगे रात का समय जो है। यदि इस बाग वाले रास्ते से जाते हैं तो तालाब इत्यादि हैं। उस रास्ते में भी गड़बड़ है। खैर उसने तालाब वाले रास्ते से आने का साहस किया और कुछ गुनगुनाता हुआ चला आ रहा था। बाग में पहुँचने पर उसे थोड़ा भय लगा। भय का कारण आत्म-शक्ति की कमी थी तथा मांस इत्यादि का भी भक्षक था। जब वह बीच बाग में आया तो उस घनघोर अँधेरे में उसे एक व्यक्ति दीखा जो बंडी पहने था। उसके पैर बड़े-बड़े तथा हाथ भी बहुत लम्बे-लम्बे थे, इससे वह भयंकर रूप से डर गया। चूँकि वह साहसी था तथा कुछ गुनगुनाते चला आ रहा था अतः उसको देखकर वह प्रेत खड़े-खड़े ही पेड़ पर उछल कर चढ़ गया। उसके दोनों बड़े-बड़े पैर दो डाल पर जाकर टिक गये। उसकी आकृति प्रकृति इसको बड़ी स्पष्ट दीख रही थी। पास आकर छोटे भाई ने बड़े जोर से चिल्लाकर कहा—कौन है रे साले भाग जा नहीं तो अभी मार डालूँगा, इतना कहकर वह वहाँ से बेतहाशा भागा। शरीर डर के मारे थर-

थर कांप रहा था, जिससे पैर ठीक से पड़ नहीं रहा था। उसे भागते समय ऐसे लग रहा था जैसे उसके पीछे वह चला आ रहा था। भागते-भागते वह जब गांव में पहुँचा तथा एक व्यक्ति को देख लिया कि यह अमुक व्यक्ति ही है तो उसने धीरज पाया और रुक गया। लेकिन उसको भय ने और से दबोचा था। वह घर पहुँचा, उसे प्रकाश नहीं दीख रहा था, आँखों के सामने अन्धेरा था। लेकिन यह अपना घर है, ऐसा जानकर किसी प्रकार अन्दर आ गया, मैं और साधक बैठकर खाना खा रहे थे। घर आते ही उसको गर्दन में जोरों का दर्द होना शुरू हो गया तथा उसको ऐसा लगा कि कोई बड़े जोर से गला दबा रहा है। माघ भी बड़ा भारी था, हम लोग खा रहे थे, घर के लोग वहीं बैठे थे। डरते-डरते उसने अपनी घटना बताई। उसको अभी तक यह याद ही नहीं है कि मुझे दीख रहा है, क्योंकि उसको समझ में तो वहाँ अँधेरा ही था, जिससे उसे दिखाई नहीं दे रहा था। लोग उसे पकड़कर बिठाते, पर उसका शरीर अपने नियन्त्रण में नहीं था, अचानक वह उठ गया तथा जोर से रोते हुए बोला—अरे भइआ हमको (साधक को) कोई पकड़कर बड़े जोर से दबा रहा है, अब प्राण निकल ही जायेंगे।

साधक को प्रभु नाम में अटूट विश्वास था। उसने जोर से डांटते हुए कहा—प्रभु के पावन नाम का तुम जप करो। लेकिन वह ऐसा कर नहीं पा रहा था। स्थिति जब और खराब हो गई तो श्रीचरणों का चिन्तन करते हुए खाना छोड़कर नाम-जप करते हुए सिर पर स्पर्श किया। उस समय साधक का शरीर बड़े जोर से रोमाञ्चित हो उठा। कुछ देर नाम-जप करते हुए सिर सहलाने से उसे राहत मिल गई। साधक ठीक जानकर खाना खाने लगा। थोड़ी देर बाद पुनः वही बात हुई तो साधक फिर खाना छोड़कर हाथ-मुँह धोकर उठ गया और प्रभु के नाम का चिन्तन करते हुए उसके सिर को सहलाने लगा, ऐसा करने से उसको पुनः राहत मिल गई। साधक उस छोटे भाई की दयनीय दशा को देखकर उसके हाथ-पैर धुलवाकर प्रभु-पूजन वाले कमरे में ले गया, प्रभु का दर्शन कर उसको राहत मिली। साधक फिर ठीक जानकर भोजन करने बैठ गया। जब तक हम दोनों भोजन कर रहे थे कि तब तक ठीक ज्योंही भोजन समाप्त हुआ वह पुनः जोर से रोने लगा तथा यह कहने लगा—अरे मेरा गला घुट रहा है। साधक को प्रभु नाम का सबक मिल गया था। उसने एक गिलास पानी प्रभु स्मरण कर अपने हाथ से दे दिया। हाय रे! सबाईं वाले प्रभु तुम कहाँ बैठे हो? स्थूल रूप से और सूक्ष्म रूप से उस साधक के भीतर प्रविष्ट हो गये हो। नाथ तेरी वाणी, तेरा कार्य, तेरी लीला से इस कलिकाल के

प्राणी विमोहित हो उठते हैं। यह समझ में नहीं आता, कैसे एक क्षण चमत्कार दिखाते, दूसरे पल मनुष्य की तरह अजान हो जाते।

साधक श्रीचरणों का चिन्तन कर पानी देता है, भाई पीता है। थोड़ी देर में गला बिल्कुल ठीक हो गया। साधक सिर पर प्रभु-नाम का चिन्तन करते हुए कुछ देर तक हाथ फेरता रहा। पुनः उसको अपने पास लाकर श्रीप्रभु के पावन चरित्र को आधे घण्टे सुनाता रहा। हे कृपालु नाथ! तुम्हारी लीला का भान जब तक तुम नहीं चाहते, कैसे कोई कर सकता है। पावन चरित्र को सुनने से उसके चित्त में पूर्ण रूप से प्रभु श्री रामलाल परम कल्याण रूप हैं, ऐसा भाव बैठ गया। चरित्र सुनकर जब वह चारपाई पर से उठा तो यह कहते कि—अब हम ठीक हैं, तथा अब हमें इस लालटेन की रोशनी दिखाई पड़ रही है। अभी तक प्रकाश नाम की कोई चीज मेरी आँख के सामने नहीं थी। हमारे अन्दर भी कौतूहल जगा। डाटकर पूछा—क्यों, अब ठीक हो न? वह बोला अब बिल्कुल ठीक हूँ। थोड़ी देर में वह खाना खाने गया। उस समय तक तो प्रसन्न मन था लेकिन खाना खाने बैठ गया और वह ग्रास मुँह में डालना चाहता तो उसकी अंगुली सिकुड़ती ही नहीं थी, जिससे वह खा न सका। वह समझ रहा है कि कोई मेरी अंगुली को सिकुड़ने नहीं दे रहा है, जिसके कारण मैं ग्रास मुँह में नहीं डाल पा रहा हूँ। साहसी था, बिना खाये उठ गया तथा सोनेके लिए चारपाई पर लेट गया। उसके परिवार के अन्य लोग उसके पास बैठे रहे। मैं और साधक बाहर चारपाई पर लेट कर प्रभु चर्चा कर रहे थे। साधक महाप्रभु की लीलाओं को सुना रहा था। तब तक छोटा भाई पुनः ॐ श्री रामलाल प्रभवे नाम उच्चारण करने लगा। आवाज पहले तो धीरे-धीरे करता रहा। पुनः आवाज धीरे-धीरे जोर और जोर होती चली जा रही थी। साधक उठा और उसे पकड़कर अपने पास सुला लिया तथा श्री प्रभु के नाम का स्मरण करते हुए सर पर वैसे ही हाथ फेरता रहा। उससे उसे राहत मिल गई। अब वह (छोटा भाई) नाम जाप कर रहा था, तो उसे यह प्रतीत हो रहा था कि जो आकृति दिखाई दी थी वह जोर से रो रही है तथा उससे दूर है। यह नाम जप भी वह पावन चरित्र सुनने के बाद ही कर पाया था। उसके पहले वह मन्त्र जप नहीं कर पा रहा था। साधक के पास सोने से उसे राहत मिली, परन्तु कभी-कभी गड़बड़ हो जाता था। उसे ऐसा दीख रहा था कि प्रभुजी खड़े हैं। साधक पुनः कोई गड़बड़ी न हो, इसलिये "ॐ श्री रामलाल प्रभवे" लिखकर हाथ में ताबीज जैसा बाँध दिया। ताबीज रूपी प्रभु ने उसके शरीर में अद्भुत वीर्य भर दिया जिससे वह बड़ी वीरता पूर्ण बातें कर रहा था। ऐसे कल्याण-कारक

भावना-शक्ति

❀ श्री विजयशङ्कर उपाध्याय

भावना अन्तःकरण की वृत्ति है। संकल्प, निश्चय, चिन्तन, मनन आदि इसी के नाम हैं। भावना तीन प्रकार की होती है—सात्विकी, राजसी और तामसी। आत्मा का कल्याण करने वाली जो सद्गुरु विषयक भावना है, वह सात्विकी है। सांसारिक विषय भोगों की राजसी एवं अज्ञान से भरी हुई हिंसात्मक भावना तामसी है। संसारके बन्धन से छुड़ाने वाली होने के कारण सात्विकी भावना उत्तम और ग्राह्य है एवं राजसी, तामसी भावना अज्ञान और दुःखों के द्वारा बांधने वाली होने के कारण निकृष्ट एवं त्याज्य है।

स्वभाव के अनुसार भावना, भावना के अनुसार इच्छा, इच्छा के अनुसार कर्म, कर्म के अनुसार स्वभाव एवं स्वभाव के अनुसार पुनः भावना होती है। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। उत्तम कर्म एवं उत्तम भावना से बुरे कर्म एवं बुरी भावना का नाश हो जाता है। फिर अन्तःकरण पवित्र होने पर श्री प्रभुजी की प्राप्ति हो जाती है।

याद रखने की बात है कि बुरे संग का प्रभाव तुरन्त होता है और अच्छे संग का कुछ विलम्ब से होता है। इसके सिवा उत्तम पुरुष संसार में हैं भी बहुत कम। फिर उनका मिलना दुर्लभ है एवं मिलने पर भी उनमें प्रेम और श्रद्धा होना कठिन है। श्रद्धा, बुद्धि की कमी, विषयों की आसक्ति, हृदय की मलिनता, चित्त की चञ्चलता, साधनों की

(पिछले पृष्ठ का शेष)

प्रभु अपने बालक की रक्षा के लिये भागे चले आते हैं यह तावीज से पता चला। इसके बांधने के बाद उसे कोई भय, कोई भ्रम नहीं दीख रही थी। वह सामान्य जैसा हो गया तथा थोड़ी देर बाद बड़े आराम से सो गया। किसी प्रकार की कोई परेशानी रात भर नहीं रही। ऐसे वे कृपानाथ सद्गुरुदेव भगवान् कल्याणकारी हैं। हे प्रभु निश्चय ही तुम अपने बालकों को बचाते हो, तब ही वह मंत्र स्फुरित होकर साधक के मन को प्रसन्न करता है और वह भी स्मरण करता है।

एक महात्मा ने बताया कि श्रीकृष्ण सदैव अपने रूप को छिपाते हैं। ऐसे ही कृष्ण स्वरूप सद्गुरुदेव भगवान् भी अपने को पूर्णरूप से छिपाते हैं प्रकट नहीं करते, जिससे हम सबकी बुद्धि भ्रमित रहती है। उनके चरित्रों को नहीं समझ सकते। हे प्रभु ! उस साधक जैसी शक्ति एवं प्रेमसे पूरित करो। नाथ जैसे उसके प्राणों की रक्षा की वैसे हे प्रभु ! आप रक्षा करो। साधक का भाई आजकल बड़े चैन से है। ऐसे करुणा सागर हमारे प्रभुजी हैं।

कठिनाई, आलस्य तथा अकर्मण्यता और स्वभाव के प्रतिकूल होने के कारण सत्पुरुषों के उपदेश का प्रभाव विलम्ब से होता है।

असंख्य कोटि जीवों में मनुष्य संख्या परिमित है। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य का शरीर मिलना कठिन है। मनुष्यों में भी बहुत से नास्तिक हो जाते हैं जो सद्गुरु सत्ता को भी नहीं मानते और मानने वालों में भी कितने ही श्री प्रभुजी की प्राप्ति को भूल से असम्भव समझकर उससे उपराम रहते हैं।

यद्यपि हम लोग अधिकारी नहीं, किन्तु श्री प्रभुजी ने जब हम लोगों को मनुष्य शरीर दे दिया तो फिर हम लोग अनाधिकारी भी क्यों समझें ? प्रभु बड़े ही दयालु हैं, महापापी पुरुषों को भी वे आत्मोद्धार के लिए मनुष्य का शरीर देकर मौका देते हैं—

कबहुँक करि करुणा नर देही।
देत ईश बिनु हेतु सनेही॥
—तु० रा० उ० का०

इतना ही नहीं, जो प्रेम भाव से भजते हैं नियमतः दोनों समय केवल आरती-पूजन ही करते हैं। उनकी श्रीप्रभुजी सब प्रकार से सहायता भी करते हैं—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ,
नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं,
त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥
—गीता २/३

श्री प्रभु का अंश होने के कारण हम लोगों को भी अपनी कमजोरी नहीं माननी चाहिए अग्नि की चिनगारी की भाँति यह जीवात्मा श्री सद्गुरु सत्ता का ही अंश है।

अग्नि की छोटी-सी भी चिनगारी वायु के बल से सारे ब्रह्माण्ड को जला सकती है। ऐसे ही यह जीवात्मा सत्संगरूपी वायु के बल से समस्त पापोंको जलाकर संसार रूपी समुद्र को गोपद की भाँति लाँघ सकता है।

यह संसार प्रभुमय है, किन्तु हमको भ्रम से अपनी-अपनी भावना के अनुसार नाना रूप में दीखता है। जैसे कोई एक महान् पुरुष है, किसी की दृष्टि में महात्मा, किसी की दृष्टि में अभिमानी, किसीकी दृष्टिमें लोभी, पाखंडी और किसीकी दृष्टि में भोगी दिखाई देता है। अपने अपने भावों के अनुसार ही लोगों को नाना प्रकार की प्रतीति होती है।

साक्षात् भगवान् श्री राम और श्रीकृष्ण भक्तों को ईश्वर, स्त्रियों को कामदेव, दुष्टों को काल, राजाओं को वीर, माता-पिताओं को बालक और योगियों को ब्रह्म आदि रूपों दिखते थे।

जिनकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति तिन्ह देखी,तैसी॥
देखहिं रूप महा रनधीरा।
मनहुँ बीर रस धरें सरीरा॥
रहे असुर छल छोनिप बेषा।
तिन प्रभु प्रगट काल सम देखा॥

हरि भगतन देखे दोउ भ्राता।
इष्टदेव इव सब सुखदाता॥

—रामायण

इसी प्रकार यह सारा संसार वस्तुतः एक सद्गुरु सत्ता का स्वरूप होने पर भी भ्रम से अपनी-अपनी भावनानुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होता है। किसी को सत् दीखता है तथा किसी को असत्। परिणाम भी प्रायः भावना के अनुसार ही देखने में आता है—

आपने भाव ते भूलि परयो,
भ्रम देहस्वरूप भयो अभिमानी।
आपने भाव से चञ्चलता अति,
आपने भाव ते बुद्धि बिरानी॥
आपने भाव ते आप बिसारत,
आपने भाव से आतम ज्ञानी।
सुन्दर जैसो ही भाव है आपनो,
तैसो ही होइ गयो यह प्रानी॥

यह नियम है कि मनुष्य सदा जिसका चिन्तन करता है, अन्तःकाल में भी प्रायः उसी का चिन्तन होता है और शरीर त्याग कर उसी को प्राप्त करता है।

अतएव हम लोगों को सर्व श्री सद्गुरु-सत्ता में अपनी बुद्धि लगाकर क्षण-क्षण श्री गुरुदेव जी का स्मरण करते रहना चाहिये। इससे बढ़कर और कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है।

—❀ यह संसार ❀—

हर क्षण संसार के सारे पदार्थ विकारवश विनाश प्राप्त करते ही हैं। हर क्षण काल-देवता संसार के प्राणियों और पदार्थों को निगल रहे हैं। वस्तु के निर्माण होते ही उसका विनाश भी आरम्भ हो जाता है। जिस प्रकार दीपक की ज्योति हर क्षण तेल का नाश कर रही है, जिस प्रकार नदी का बहता पानी प्रत्येक क्षण नये-नये स्थान पर प्रवाहित होता है, उसी प्रकार संसार में समस्त प्राणी एवं पदार्थ प्रत्येक क्षण विकार एवं विनाश प्राप्त कर रहे हैं। इसलिए अनुभवी सन्त चेतावनी देते हैं कि इन नाशवान् प्राणी-पदार्थ में ममता क्यों रखी जाय? अहन्ता क्यों रखी जाय? क्योंकि जीवन थोड़ा, सामर्थ्य भी थोड़ी है और काल का कोई भरोसा नहीं है। एकायक न जाने कब प्रयाण करने का समय आ जावे। इस खान-पान में इस पहनने-ओढ़ने में और इन भोगों में नित्य वही-का-वही एक नीरस व्यावहारिक जीवन है।

—श्री मगनलाल हरिभाई व्यास

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

चाणक्य सूत्राणि

न स्त्री रत्न समं रत्नम् ॥१॥

चरित्रवती नारी के समान संसार में कोई अन्य रत्न नहीं होगा।

अयशोभयं भयेषु ॥२॥

अपयश मनुष्य को हीन बना डालने वाली भीषणतम अवस्था है।

ना स्त्यलसस्य शास्त्राधिगमः ॥३॥

पुरुषार्थ हीन अजितेन्द्रिय व्यक्ति को शास्त्र पर अधिकार प्राप्त नहीं होता।

आर्यवृत्त मनुतिष्ठेत ॥४॥

मनुष्य आर्योचित चरित्र और स्वभाव को सदा सुरक्षित रक्खे।

कदापि मर्यादा नातिक्रामेत ॥५॥

शिष्टाचार की मर्यादा का कभी भी उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

नक्षत्रादपि निमित्तानि विशेषयन्ति ॥६॥

निमित्त नक्षत्रों से भी अधिक महत्व रखते हैं।

अर्थात्

किसी शुभ कार्य के आरम्भ में नक्षत्र आदि के आधार पर निकाले गये मुहूर्त से अधिक महत्वपूर्ण वे निमित्त यानी वे संकल्प ही होते हैं जिनसे कार्यारम्भ करने की प्रेरणा प्राप्त हुई हो

अपराधानुरूपो दण्डः ॥७॥

दण्ड अपराध के अनुरूप होना चाहिए।

कार्यानुरूपः प्रयत्नः ॥८॥

कार्य के अनुसार प्रयत्न होना चाहिए।

पात्रानुरूपं दानम् ॥९॥

दान तथा उसकी मात्रा—पात्र अर्थात् दान ग्रहण करने वाले की अवस्था और उसकी आवश्यकता और स्थिति के अनुरूप होना चाहिए।

वयोऽनुरूपो वेशः ॥१०॥

वेश अवस्था के अनुरूप होना चाहिए।

भर्तृ वश वर्तिनी भार्या ॥११॥

भर्ता अर्थात् पति के अनुकूल भार्या के रहने में ही गृहस्थ जीवन का कल्याणमय बना रहता है।

गुरुवशानुवर्ती शिष्यः ॥१२॥

शिष्य को गुरु की इच्छा का अनुवर्ती होना चाहिए।

पितृवशानुवर्ती पुत्रः ॥१३॥

पुत्र को पिता की इच्छा का अनुवर्ती होना चाहिए।

आत्मच्छिद्रं न पश्यति परच्छिद्रमेव पश्यति बालिशः ॥१४॥

मूर्ख अपने दोषों को न देखकर दूसरों का ही अपराध देखा करता है।

स्त्रीणां भूषणं लज्जाः ॥१५॥

लज्जा स्त्रियों का भूषण है।

विप्राणां भूषणं वेदः ॥१६॥

वेद अर्थात् वेद ज्ञान प्राप्त करना ही ब्राह्मणों का भूषण होता है।

सर्वेषां भूषणं धर्मः ॥१७॥

सत्यनिष्ठा या स्वकर्तव्यपालन ही मनुष्य मात्र का भूषण है। सत्य या कर्तव्य से हीन मनुष्य मनुष्यताहीन श्रीहीन असुर है।

भूषणानां भूषणं सविनया विद्या ॥१८॥

विनय सहित विद्या सब भूषणों में श्रेष्ठ भूषण है।

❋ भगवान् से क्या माँगें ?

❀ आचार्य डा० श्री केशवराम शर्मा

एम० ए० (हिन्दी-संस्कृत), पी-एच० डी०, साहित्याचार्य

गुरुपूर्णिमा के पावन पर्व पर सौभाग्य से मुझे भी प्रातः स्मरणीय परम पूज्य गुरुदेव जी के दर्शन करने का अवसर मिला। कलकत्ता बम्बई, आगरा, मथुरा, प्रयाग, वाराणसी, दिल्ली, कानपुर आदि नगरों से अथाह सागर में विलीन होने के लिए उमड़ती हुई नदियों के समान असंख्य गुरु-भाई एकत्र हो रहे थे। कुछ गिने-चुने भक्तों को छोड़कर शेष सभी सज्जन गुरुदेव जी से सन्तान, धन, वैभव, परीक्षा में सफलता, व्यापार में लाभ, नौकरी में उन्नति आदि-आदि न जाने किन-किन कामनाओं की पूर्ति के लिये निवेदन कर रहे थे। तभी मेरे मन में प्रश्न उठा कि भगवान् से कुछ माँगना उचित है या नहीं ? मेरे उस चिन्तन का परिणाम ही प्रस्तुत लेख है, जिसे मैं अपने गुरुदेव श्री के चरणारविन्दों में ही सादर समर्पित कर रहा हूँ।

"माँगन गया सो मर गया,
मरे सो माँगन जाय।"

यद्यपि इस नीति वाक्य के अनुसार माँगना घोरतम अपराध है, तथापि अपने पालनकर्त्ता से अपना स्वत्व ग्रहण करना संसृति का नित्य धर्म है। वह परम पिता बिना माँगे भी हमें निहाल कर देता है। अतः आवश्यकतानुसार उस प्रभु से कुछ माँग लेना कोई अनुचित कार्य नहीं है। इसके विपरीत यदि शिशु को भूख लगने पर रोकर अपनी माता से कुछ न माँगे, बालक अपनी पढ़ाई-लिखाई, भोजन-वस्त्र, स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में अपने माता-पिता से आवश्यकता-पूर्ति का निवेदन न करे और इसी प्रकार युवक अपनी अवस्था के अनुसार विविध आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अपने बड़ों की सहायता न माँगे तो समाज का ढाँचा ही बिगड़ जावे। स्पष्ट कि जिस प्रकार माता-पिता से माँगना बच्चे का अधिकार है, ठीक उसी प्रकार जीवन भर उस परम पिता से माँगने का भी प्राणिमात्र का अधिकार है।

अब हमारे सामने यह प्रश्न है कि उस प्रभु से हम क्या माँगें ? संसार के प्राणी अधिकांश में प्रेय मार्ग के पथिक हैं। अतः अपनी प्रवृत्ति के अनुसार वे उस जगदात्मा से धन-वैभव की कामना करते हैं। जो धनहीन हैं उन्हें धन चाहिये और पुत्रहीन को, एकमात्र लालसा पुत्र पाने की रहती है। हमारे जप-तप, व्रत-अनुष्ठान, पूजन-अर्चन, दान-पुण्य आदि का एक ही लक्ष्य होता है—भौतिक सुखों की उपलब्धि। हमारे इष्टदेव गुरुदेव

हों या राम, कृष्ण, दुर्गा, हनुमान, बुद्ध, महावीर, अल्लाह, यीशु कोई भी हों, हम उनसे भाँति-भाँति की विनती करते हैं और वे उन्हें पूर्ण करते हैं। इस दशा में सभी प्राणियों के अपने-अपने अनुभव हैं। किसी का काम हनुमान जी को प्रसाद चढ़ाने से बनता है, किसी का देवी के अनुष्ठान से और किसी का अपने गुरुदेव की शरण में जाने से।

वे अन्तर्यामी प्रभु हमारी भावनाओं को पहचानते हैं। जो उस मायापति से माया माँगता है, उसे माया मिलती है और जो कबीर की भाँति इस मायारूपी खिलौने से सन्तुष्ट नहीं होता, उस भक्त को वे करुणा-वरुणालयक अपने दर्शन से कृतार्थ करते हैं। कबीर ने इस प्रसङ्ग का इस प्रकार चित्रण किया है—

पूत पियारा पिता को, गोहन लागा धाय।
लाड़ मिठाई हाथ दे, आपन लिया बचाय॥
हारी छाड़ि पटक करी, अन्तर रोग उपाय।
रोवत-रोवत मिल गया, पिता पियारे जाय॥

सामान्य लोग जीवन भर मायाके खिलौने से खेलते रहते हैं। माता भी जब अपने काम में लगी होती है, तो बच्चे को खिलौना देकर बहला देती है, किन्तु जब कोई बच्चा उस खिलौने को फेंक कर माता का प्यार पाने को छटपटाता है तो विवश होकर माता को उसकी इच्छा पूर्ण करनी होती है। ध्रुव, प्रह्लाद, नामदेव, धन्ना आदि के असंख्य उदाहरण हैं, जो अपने प्रभु को पाकर ही शान्त हुए थे।

मेरे कहने का आशय यह है कि परमात्मा तो सर्वभावेन समर्थ है। यह सब माँगने वाले की बुद्धि पर निर्भर करता है कि वह इच्छा-पूर्ति होने पर भी अपना कल्याण कर पाता है या नहीं? अज्ञानी व्यक्ति कल्पवृक्ष के नीचे भी भूखा रहता है। दोष उसकी बुद्धि का है अतः इसमें कल्पवृक्ष की प्रतिष्ठा को कोई आँच नहीं आती।

"परम गंग को छाँड़ि पियासो,
दुर्मति कूप खनावै।"

इसमें गंगा नदी का तो कोई दोष नहीं है। सच बात तो यह है कि हमें न मौन रहना आता है और न माँगना ही। यदि हम—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द! तुभ्यमेव समर्पये

"हे प्रभो! मैं आपके द्वारा प्रदान की गई वस्तुओं को आपके ही समर्पित कर रहा हूँ।" के भाव से आत्म-निवेदन वृत्ति से जीवन-निर्वाह करें और परमात्मा से कभी कुछ न माँगें तो वे स्वयं ही कल्याण करेंगे। दूसरी ओर यदि हमारी कुछ माँगने की ही आदत बन चुकी है तो प्रभु उनकी अनपायिनी भक्ति ही माँगें अन्यथा हीरों की खान में रहकर भी हम अज्ञानवश दरिद्र ही बने रहेंगे। प्रभु को पा लेने पर हमारे लिए कुछ भी प्राप्य नहीं रहेगा। कहा भी है—

प्रभुता को सब कोई भजै,
प्रभु को भजै न कोय।

जो रहीम प्रभु को भजैं,
प्रभुता वैरी होय ।।

हम क्षण-भंगुर सांसारिक वस्तुओं को पाने के लिए छटपटाते हैं। धन-वैभव की प्राप्ति के लिए अनेक प्रयत्नों का आश्रय लेते हैं। हमारी सब प्रकार की अभिलाषायें उस प्रभु की प्रभुता (माया) का ही प्रसार है। सद्गुरु की कृपा से जिस साधक के प्रज्ञा-चक्षु खुले होते हैं, वह माया की उपेक्षा करके मायापति को पकड़ता है। प्रभु से सीधे सम्बन्ध बन जाने पर उनकी दासी माया स्वतः ही साधक की सेवा में उपस्थित होती है और आश्चर्य इस बात का है कि ऐसा प्रमाण उसे कबीर के शब्दों में—"माया महाठगिनी हम जानी" कहकर फटकार देता है।

सच्चा सुख विषय-वासनाओं को पानेमें नहीं ठुकराने में है। हमारे पूर्वजों ने इसीलिये तो कहा था—

कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः।

अर्थात् लंगोट धारण करने वाला ही वास्तव में भाग्यशाली है। निस्पृह होना हमारी सबसे बड़ी साधना है। बस, निर्णय हमें करना है कि हम उस परम सिद्धि के साझीदार बनना चाहते हैं या यों ही दर-दर के भिखारी और दीन बने रहना चाहते हैं? हम माया-मोह में डुबकी लगाना चाहते हैं या मायापति से नाता जोड़कर भव-सागर से पार जाना चाहते हैं? हम "माया सबल धाम, धन, वनिता, बांधी ही इहि साज" की स्थिति में रहना चाहते हैं या श्रेय-मार्ग के पथिक बनकर अपना उद्धार करना चाहते हैं? ये प्रश्न सभी जिज्ञासुओं के प्रति है, जिनका उत्तर प्रत्येक को अपने लिए स्वयं सोचना है। 卐

जीवन का अर्थ

जीवन का क्या अर्थ है यहाँ,
क्यों कंचन सा तन पाया है?
क्या इसको कुछ समझ सके हो,
क्यों नर भूतल पर आया है?
क्या अपने की परिभाषा में,
सीमित है परिवार तुम्हारा!
क्या न सुनी यह अमृत वाणी,
है कुटुम्ब संसार तुम्हारा!!

—श्री दिव्य (कविरत्न)

यौगिक प्रश्नोत्तरी

आश्रम के विशुद्धतम वातावरण में पुनः नैत्यिक सत्संग का आरम्भ जिज्ञासु समुदाय के लिए श्रद्धा निःस्वार्थ श्री गुरुदेव जी की आज्ञानुसार उनके पवित्र वचनामृत को सुनकर एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया—

प्रश्न—हे गुरुदेव! आपने अपने कल के व्याख्यान में भव-प्रत्यय वाले योगियों की बात कही थी। वे लोग तो धन्य भाग हैं जो इस प्रकार का जन्म धारण करते हैं और जन्म ग्रहण करते ही उनकी प्रवृत्ति योग-ध्यान की ओर बन जाती है। उनको कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। जन्म-जन्मांतर के अभ्यास वश वे लोग पूर्व प्रारब्धोपार्जित कर्म संयोग को पाकर बिना ही किसी प्रयास के योगी बन जाते हैं, किन्तु जो लोग इस प्रकार के संस्कारी नहीं हैं उनकी क्या स्थिति होगी?

उत्तर—हे पुत्र! उनके लिये उपाय है। जिसका संकेत श्रीव्यासदेव जी ने अपने भाष्य में स्वयं कर दिया है—

उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति।

अर्थात् वह अपने प्रयत्न से ठीक उस ही प्रकार की स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं और पतन से परे हो जाया करते हैं। भव प्रत्यय वाले योगी तो कभी-कभी प्रमाद भी कर बैठते हैं। वे लोग अपने मन में समझ बैठते हैं कि हम तो यह वस्तु बिना ही प्रयास के उपलब्ध हो रही है तो हमें विशेष प्रयास करने की आवश्यकता ही क्या है। इस धारणा को ले करके पूर्व जन्मोपार्जित पुण्य के प्रभाव से प्राप्त की हुई स्थिति को खो बैठते हैं। किन्तु जो लोग पूरे-पूरे प्रयत्न के साथ अपनी समाधि स्थिति को प्राप्त करते हैं, वह इस प्रकार का प्रमाद कभी भी नहीं करते। प्रत्युत अपने अभ्यास में निरन्तर लगे रहा करते हैं और कालान्तर में अवश्य ही समाधि स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्न—हे गुरुदेव! क्या इस प्रकार के लोगों का मन विचलित नहीं होता और वह क्या अपने प्रयत्न में दृढ़ता से लगे ही रहते हैं?

उत्तर—हे पुत्र! उनकी श्रद्धा ऐसी ही होती है जिसके कारण अभ्यास से कभी भी विचलित नहीं होते। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं अपने मुखारविन्द से यह शब्द कहे हैं—

सत्वानुरूपा सर्वस्य,
श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धा मयोऽयं पुरुषो,
यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

अर्थात् जिस व्यक्ति के अन्दर जितना अधिक सतोगुण का विकास हो जाया करता है वैसी ही उसके मन में दृढ़ श्रद्धा पैदा हो जाती है और परमात्मा का रूप श्रद्धामय है। जैसी जिसकी श्रद्धा होती है परमात्मा वैसा ही बन जाया करता है।

प्रश्न—हे गुरुदेव! भगवान के इस कथनानुसार तो परमात्मा अनेक रूप हो गया। इसका अर्थ तो यह हुआ कि साधक जिस भावना से उसको चाहेगा तो परमात्मा वैसा ही हो करके उसको मिल जायेगा। इसके अनुसार तो हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी सभी के मत ठीक हैं, क्योंकि वे लोग भी किसी न किसी नाम रूप से तो परमात्मा को चाहते ही हैं। क्या उनकी भावनानुसार उनको परमात्मा नहीं मिलेगा?

उत्तर—हे पुत्र! उनकी भावनानुसार उनको परमात्मा के दर्शन अवश्य होंगे। 'मुण्डे-मुण्डे मतिभिन्ना' के अनुसार वे भी किसी न किसी नाम रूप से तो परमात्मा को चाह ही रहे हैं। यथार्थता से तो परमात्मा कर्म क्लेश आदि से रहित निर्गुण निर्विकार एवं निराकार ही है। रही हमारी तुम्हारी भावना की बात, उसके अनुसार तो "योयच्छ्रद्धः स एव सः" का नियम लागू हो ही जायेगा।

प्रश्न—हे गुरुदेव! इसका तो अर्थ यह हुआ कि साधक स्वतन्त्र है। जैसी उसके मन में कल्पना आयेगी, वह वैसा ही चिन्तन कर लेगा?

उत्तर—हाँ पुत्र! इसमें यत्किञ्चित् भी असत्य नहीं है। जैसा उसके मन में आयेगा, वैसा ही चिन्तन कर लेगा। यह तो ठीक ही है, प्रत्युत कर लेगा ही नहीं, करता ही है। तुम अपने मन के अन्दर विचार करके देखो कि भगवान् श्री राम, श्रीकृष्ण, सदाशिव आदि के चित्र नाना प्रकार के मिलते हैं। ये सभी चित्र, चित्र बनाने वाले के अपने मन की कल्पना ही तो है। तुम स्वयं ही इस बात का विचार करो। जैसे नाना प्रकार के चित्र बाजारों में मिलते हैं, क्या भगवान् श्री कृष्ण का अपना रूप इसी प्रकार था? मन गवाही देगा कि नहीं-नहीं। यह सभी चित्र तो केवल मात्र काल्पनिक चित्र हैं। अभ्यास करने वाला साधक उनको उनकी लीला-काल में देखकर तो आया नहीं था। अब सोच समझकर पुस्तकों में जैसा वर्णन मिला वैसा ही साधक अपनी कल्पना से उनको मान बैठा। जहाँ पर भगवान पतंजलिदेव ने उपाय प्रत्यय का वर्णन किया है, वहाँ पर साधकों की सन्तुष्टि के लिए निम्नांकित सूत्र का उल्लेख किया है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

अर्थात् उपाय प्रत्यय का सहारा लेने वाले योगियों के लिये श्रद्धा, वीर्य, स्मृति के द्वारा समाधि की प्राप्ति होती है।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! क्या श्रद्धा, वीर्य, स्मृति समाधि आदि योगी को निर्विकल्प समाधि तक पहुँचा देते है ?

उत्तर—हाँ पुत्र ! बिल्कुल पहुँचा देते हैं। तुम भाष्य में व्यासदेव जी के विचार पढ़ो, वे क्या कह रहे हैं—

उपायप्रत्ययो योगिनां भवति। श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः। सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति। तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुपतिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते। समाहितचित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्त्तते। येन यथावद्वस्तु जानाति तदभ्यासात्तत्‌विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति।

अर्थात् श्रद्धा चित्त का प्रसाद है और वह श्रद्धा जन्म देने वाली माता की तरह योगी की रक्षा करती है। विवेक ज्ञान को प्राप्त होने की इच्छा वाला योगी ज्यों-ज्यों अपने अभ्यास को बढ़ाता है, त्यों-त्यों उसकी श्रद्धा दृढ़ता को पाती चली जाती है और जिसके मन के अन्दर श्रद्धानुलोप दृढ़ता बढ़ती चली जाती है उसको स्मृति का उपस्थान होता चला जाता है और ज्यों-ज्यों स्मृति स्थिति पाता है त्यों-त्यों चित्त निर्विघ्न समाधिस्थ हो जाता है और चित्त के समाधिस्थ हो जाने के बाद अपने आप ही प्रज्ञा विवेक प्राप्त हो जाता है, जिससे साधक वस्तु तत्व का यथार्थ ज्ञाता बन जाता है।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! स्मृत्युपस्थान किसको कहते है ? क्या स्मृति स्थिति इतनी बड़ी वस्तु है कि जिससे चित्त निर्विघ्न समाधिस्थ हो जाये ?

उत्तर—हाँ पुत्र ! स्मृति स्थिति ठीक इसी प्रकार की वस्तु है। क्या तुम स्मृति का अर्थ नहीं जानते ? भगवान् पतंजलिदेव ने तो जहाँ पहले वृत्तियों का वर्णन किया है, वहाँ पर स्मृति का लक्षण बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है—

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।

अर्थात् अनुभव में आये हुए विषय का न चुराया जाना ही स्मृति कहलाती है। योगी जिस वस्तु को एक बार जान लेता है, वह उसको भुला नहीं करता और जिस योगी के मन में इस प्रकार का ज्ञान कायम हो जाता है कि एक बार वस्तु तत्व के जान जाने पर वह भूलता ही नहीं। ऐसी स्थिति में वह अनायास ही समाधि को प्राप्त कर लेगा और समाधि प्राप्त हो जाने पर ज्यों-ज्यों उसकी स्थिति स्पष्ट होती चली जायगी, त्यों-त्यों प्रज्ञा विवेक प्रकट होता चला जायेगा और प्रज्ञा विवेक पैदा हो जाने के बाद योगी वस्तु

तत्व की यथार्थता का ज्ञाता अनायास ही बन जायेगा।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! प्रज्ञा विवेक किसको कहते हैं, जिससे मनुष्य यथार्थता का ज्ञाता बन जाता है ?

उत्तर—हे पुत्र ! प्रज्ञा विवेक एक प्रकार से ऋतम्भरा प्रज्ञा का ही नाम है।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! ऋतम्भराप्रज्ञा किसको कहते हैं और वह योगीको कब प्राप्त होती है ?

उत्तर—हे पुत्र ! ऋतम्भरा प्रज्ञा उसी का नाम है जो बुद्धि सत्य को ही धारण करती है अर्थात् जिसकी बुद्धि में यथार्थता के अतिरिक्त और कोई भाव आता ही नहीं है।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! योगी को यह बुद्धि कब और कैसी स्थिति में प्राप्त होती है ?

उत्तर—हे पुत्र ! ये बुद्धि योगी को, जब वह अस्मितानुगत समाधि को प्राप्त कर लेता है तभी प्राप्त होती है और फिर वह योगी पतन से परे हो जाया करता है। क्योंकि भगवान् पतंजलिदेव स्वयं यह आदेश करते हैं—

तज्जः संस्कारो अन्य संस्कार प्रतिबन्धी।

अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कारों के उदय हो जाने के बाद योगी के मन में और किसी संस्कार का उदय होता ही नहीं है। ऋतम्भरा प्रज्ञा अन्य संस्कारों को रोकने के लिए दीवार का काम करती है।

प्रश्न—हे गुरुदेव ! यह तो आपने स्मृत्युपस्थान की बात कही जिसमें श्रद्धा मूल कारण बनती है। मेरे मन में एक शंका और पैदा होती है और उसका इस विषयसे सम्बन्ध भी है। कृपा करके उसका निराकरण और कर दीजिए और वह यह है कि आजकल के समय में बहुत से इस प्रकार के प्रचारक हो गये हैं जो यह कहते हैं कि मन को चाहे जहाँ लगा देना चाहिए और कई एकों का तो इस प्रकार का सिद्धान्त है कि युवा स्त्री पुरुषों को आमने सामने बैठा करके एक दूसरे को देखते हुए एक दूसरे पर मन को एकाग्र करने की आज्ञा देते हैं।

उत्तर—हे पुत्र ! यह उन लोगोंका विचार है, किन्तु शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार के चिन्तन मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाले सहज में ही हो सकते हैं। इस प्रकार के चिन्तन चटपट वासना के रूप में बदल सकते हैं और उसका फल अंततः पतन की ओर जटाने के अलावा कुछ हो नहीं सकता। भगवान् श्रीकृष्ण का गीतामें स्वयं आदेश है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः,
सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः,
कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः,
संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो,
बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

—गीता २/६२-६३

अर्थात् ज्योंही मनुष्य वासनिक चिन्तन करता है, त्यों-त्यों उसके मन में वह वासना और कामना बढ़ती चली जाती है। कामना के अत्यधिक बढ़ जाने पर यदि उसकी उपलब्धि नहीं होती है तो मन में बड़ा भारी क्रोध पैदा हो जाता है और क्रोध पैदा हो जाने पर बड़ा भारी मोह, मति-भ्रम और स्मृति का भ्रंश होने लगता है। स्मृति भ्रंश हो जाने के बाद बुद्धि का नाश हो जाता है। बुद्धि का नाश हो जाने के बाद केवल मात्र प्रणश्यति की ही डिग्री मिलती है। इसलिए यह इस प्रकार के ध्यान और चिन्तन साधक को कामनाओं के गर्त में गिरा कर उत्थान की अपेक्षा घोर पतन कर डालते हैं। इसलिए साधक के लिए तो सर्वथा यही उचित है कि—

विहाय कामान्यः सर्वा-
न्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः,
स शान्तिमधिगच्छति ॥

आपूर्यमाणमचल प्रतिष्ठं-
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे,
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

—गीता २/७१-७०

अर्थात् जो मनुष्य सब कामनाओं को छोड़ करके निर्भनो निरहङ्कार होकर घूमता है वह शान्ति को प्राप्त कर लेता है। भगवान इसी बात को स्पष्टीकरण के साथ समझाने के लिये उदाहरण देकर समझाते हैं कि जिस प्रकार से सभी नदी-नाले समुद्र में मिल करके अपने नाम और रूप को खो बैठते हैं। ठीक इस ही प्रकार से सभी कामनायें मनुष्य के मन में जाग कर खत्म हो जाती हैं तो वह मनुष्य शान्ति को प्राप्त कर लेता है और जो मनुष्य कामनाओं के पीछे दौड़ता रहता है, वह कभी भी शान्ति को नहीं पा सकता। इसलिये प्रत्येक साधक को चाहिए कि वह—

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः

के सही अर्थ को समझकर—

चित्तवृत्तिनां नितरांरोधः

की यथार्थ स्थिति को प्राप्त करे, यही कल्याण का आदि स्रोत है।

—❀ ❀ ❀ ❀—

आज के लोगों ने जीवन के विकास के नियम क्रूरता से तोड़े हैं और परिणाम भुगत रहे हैं। पढ़े-लिखे ये लोग यदि पुनः संस्कृति में प्रवेश करें तो समाज में बल आ सकता है, इनकी शुद्धि होनी चाहिए। इन्हें वैदिक धर्म में पुनः दीक्षित करना चाहिए और इनके घरों में आर्यत्व लाना चाहिए।

—श्री लालचन्द जी

आयुर्वेद और योग

❀ श्री नारायणदत्त शर्मा
एम० ए० एम० एस० आयुर्वेद चिकित्सा अधिकारी

आइये विचार करें कि आयुर्वेद का स्वतन्त्र स्वरूप क्या है और योग का स्वरूप क्या है तथा दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? प्रस्तुत लेख का विवेचनीय विषय यही है।

आयुर्वेद और योग दोनों ही जीवन-प्रदात्री विद्यायें हैं। दोनों को ही वेदाङ्ग की संज्ञा दी गई है। भारत के तपः पूत त्रिकालदर्शी ऋषियोंने दोनों ही का गहराई से अध्ययन और अन्वेषण करके इन पर विस्तृत व्याख्या ग्रन्थ लिखे हैं और यह सिद्ध कर दिया है कि इन दोनों ही ऋषिकृत ग्रन्थों के अनुसार अपनी जीवन पद्धति का निर्माण करके मनुष्य जरा, व्याधि और मृत्यु दोनों पर ही महत्तया विजय प्राप्त कर सकता है। जैसा कि हमने ऊपर कहा है—आयुर्वेद और योग दोनों ही वेद के सुपुत्र या उपाङ्ग हैं। सृष्टि-रचना में योग के पञ्च तत्व के ही आधार पर आयुर्वेद के पञ्च महाभूत आधारित हैं जैसा कि योग-शास्त्र और शरीर शास्त्र से प्रतिपादित है—

विसर्गादान विक्षेपैः,
सोम सूर्यानिलाः यथा।
धारयन्ति जगद्देहं,
कफ पित्तानिलास्तथा॥

अर्थात् सोम या वरुण (जल), सूर्यवाद अग्नि अनिल या वायु ये तीनों देवता आयुर्वेद के अनुसार वात, पित्त, कफ के रूप में लघु ब्रह्माण्ड शरीर को जन्म देते हैं और उसका पोषण संरक्षण करते हैं। इसी आधार पर आयुर्वेद का त्रिदोषवाद ठहरा हुआ है।

सन्ध्या में प्राणायाम की क्रिया में ब्रह्मा (रक्त-वर्ण), विष्णु (नील-वर्ण), महेश (श्वेत-वर्ण) के ध्यान का विधान है। प्रतिदिन एकाग्र चित्त होकर रक्त, नील, श्वेत वर्ण आदि का ध्यान करने से समस्त विकार दूर होते हैं। एतदर्थ ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश भारतीयों के ध्यान-विषय हैं। त्रिकाल सन्ध्या का विधान भी इसी आधार पर है। ये रक्त, श्वेत, नील-वर्ण क्रमशः आयुर्वेद के वात, पित्त, कफ हैं। इन वर्णों (रङ्गों) के ध्यान से त्रिदोष साम्य होकर शरीर स्वस्थ रहता है।

हमारा शरीर संक्षेपतया तीन द्रव्यों, शरीर, मन, आत्मा द्वारा निर्मित है। शरीर रचना का वर्णन सुश्रुत संहिता में अव्यक्त, महत्तत्व, अहङ्कार, धर्म, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, तन्मात्रा (अष्ट प्रकृति), पञ्च महाभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मनः षोडस विकार, जीवात्मा तथा शुक्र शोणित के संयोग से माना गया है। इसीलिये ही आयुर्वेदज्ञों ने मन और आत्मा तक की स्वस्थता का निदान प्रस्तुत किया है।

समदोष समाग्निश्च,
समधातु मल क्रिया।
प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः,
स्वस्थ इत्यभिधीयते॥

अष्टांग योग, हठयोग और राजयोग

योग के आठ अंगों में से पूर्व के चार अंगों (यम, नियम, आसन, प्राणायाम) को हठयोग और उत्तर के चार अंगों (प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि) को राजयोग कहते हैं।

हठयोग की क्रियायें आयुर्वेद के 'समदोषः समाग्निश्च समधातु मलक्रिया से सम्बन्धित है। राजयोग प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभिधीयते से सम्बन्धित है। अर्थात् हठयोग का सम्बन्ध स्थूल शरीर एवं प्राणवायु के निग्रह से है जबकि राजयोग का सम्बन्ध मन एवं आत्मा से है। जहां हठयोग का समुचित अभ्यास समाप्त होता है वहीं से राजयोग का अभ्यास प्रारम्भ होता है। आयुर्वेद में रस-विज्ञान (पारद विज्ञान) योगियों की ही देन है।

रस-चिकित्सा—

आयुर्वेद में पारद का प्रयोग तथा पारद के अष्ट-विधि संस्कार द्वारा देह में दृढ़ता लाकर उसे जरा व्याधि विनाशनम् के रूप और गुणों में परिवर्तित करना तथा लोहे को सुवर्ण में बदल डालने का आविष्कार महर्षि नागार्जुन की अतुल्य देन रही है। जिस प्रकार यौगिक क्रियाओं द्वारा त्रिदोष साम्य होकर रोगों का नाश होता है उसी प्रकार समाधि प्रकरण में औषधिजा समाधि भी बतलाई है। औषधियों से भी मन की एकाग्रता स्थापित हो जाती है। इससे भी यह साबित होता है कि आयुर्वेद और योग में अति साम्यता है।

कर्णवेध संस्कार भी आजकल की पंक्चर-पद्धति का ही मन्नावशेष है। आचार्य सुश्रुत ने सुश्रुत-संहिता में चिकित्सा-स्थान अध्याय १९—२१ में कर्णवेधन से साधारणतया अन्त्र-वृद्धि और अण्ड-वृद्धि रोग न होने का उल्लेख है। कर्ण-नाड़ियों का फेफड़ोंसे घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। योगियों को यह पद्धति श्वास रोग-नाशन और प्राणायाम-साधना में बड़ी सहायक रहती है। एतदर्थ ही नाथ सम्प्रदाय में कर्ण-वेधन क्रिया का करा लेना साधना का एक अनिवार्य अंग माना जाता है। कान फटा होने के कारण इस पंथ के महात्माओं को कन-फटा योगी भी कहा जाता है।

पंच-कर्म—

आयुर्वेद में त्रिदोष को साम्यावस्था में लाकर देह को शुद्ध स्वस्थ बनाने की साधना में पञ्च-कर्म का सिद्धान्त चिकित्सा विज्ञान की सर्वश्रेष्ठ पद्धति है, उसी प्रकार हठयोग में भी पञ्च-कर्म धौती, वस्ति, आसन, मुद्रा और प्राणायाम है जिनके द्वारा शरीर के साथ-साथ मन का भी शोधन हो जाता है। इस प्रकार भौतिक देह-त्रिभुज भाव से आलोकित मानस का आधार बनती है। पढ़िये इसी सन्दर्भ में हठयोग प्रदीपिका के कुछ प्रसङ्ग :

धौति—

कासश्वासप्लीहकुष्ठं,
कफरोगाश्च विंशतिः।
धौतिकर्मप्रभावेन
क्षीयन्ते नात्र संशयः॥

खांसी, श्वांस, तिल्ली, कोढ़ और बीस प्रकार के कफ रोग धौति कर्म के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं, इसमें संशय नहीं है।

बस्ति—

गुल्मप्लीहोदरं चापि,
वातपित्तकफोद्भवाः।
बस्तिकर्म प्रभावेन,
क्षीयन्ते सकलामयाः॥

योग की धौति-बस्ति क्रिया आयुर्वेद का वमन-विरेचन प्रकरण है, जिनकी सहायता से से शरीर का शोधन कर समस्त रोगों का प्रतिरोध किया जा सकता है तथा दीर्घकाल पर्यन्त स्वस्थ शरीर एवं दीर्घायु मिल सकती है।

आसन—

कुर्यात्तदासनं स्थैर्य-
मारोग्यं चाङ्गलाघवम्।
नाड़ीमंडलस्य मार्दवम् मनस्यै-
काग्रता जायते प्राणतन्मस्योर्ध्वगमनम्।

आसन के अभ्यास से स्थिरता, नाड़ी-मण्डल की मृदुता, मन की एकाग्रता और प्राणतत्व का ऊर्ध्व गमन होता है तथा शरीर के रोगोंकी निवृत्ति होती है। चौरासी आसनों में प्रमुख सिद्धासन, मुक्तासन, पद्मासन, मयूरासन, वज्रासन, तथा सर्वाङ्गासन का बड़ा महत्व है। आसन और मुद्राएँ निस्सन्देह शरीर को स्वस्थ रखने में बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

जीवन तत्व साधन—

यह साधन सर्वोत्तान, स्कन्धचालन, पगचालन, नाभि-चालन, जानु-प्रसार, बाल-मचलन, बिन्दु-ध्यान, नाड़ी-संचालन, उल्लंघन ये नौ क्रियायें सभी आसनों का समुच्चय (निचोड़) है। यह जीवन-तत्व साधन आनन्द-कन्द योगिराज श्रीप्रभु रामलाल जी महाराज सिद्धगुफा सवाई का निजानुभूति साधन है। जिस समय मंगलमूर्ति श्री महाराज जी नेपाल हिमालय से लोक-कल्याण हेतु पधारे थे। तब उन्होंने इस जीवन-तत्व साधनको योग-साधकों के उपकारार्थ प्रकट किया था। इसका उल्लेख हमारे प्राचीन योग-ग्रन्थों में मिलता है। इस साधन में रोग-निवारण के सभी गुण विद्यमान हैं। इसका नियमित अभ्यास करने से सभी प्रकार के उदर रोग, फुफ्फुस रोग तथा मानसिक रोग नष्ट हो जाते हैं। बिन्दु ध्यान की क्रियाका अभ्यास मानसिक आह्लाद गुणों का समावेश साधक में करा देता है जो दीर्घायु प्राप्ति का मुख्य आधार बनता है। दौर्बल्य और कुण्ठा जैसे विकार इस साधन के अभ्यास से दूर भाग जाते हैं।

प्राणायाम—

दह्यन्ते ध्माप्य मानानां,
धातुनाम हि यथा मला।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते,
दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥

जैसे अग्नि में तपाये हुए धातु के मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही प्राणायाम करने से इन्द्रियों के दोष दूर हो जाते हैं। प्राणायाम की क्रिया शारीरिक भी है और मानसिक भी। अतः चित्त से काम, क्रोध, मोह आदि विकारों के मिट जाने से साधक को प्रज्ञा का प्रकाश प्राप्त हो जाता है। प्राणायाम की उद्गीयमान बन्ध क्रिया को मृत्यु मातंग केसरी तक कहा गया है।

राजयोग —

मुख्य रूप से राजयोग मानसिक शुद्धि प्राप्त करने का व्यावहारिक मार्ग है। मनुष्य इसके द्वारा अपने मानस का स्वयं अधिष्ठाता बनकर उत्तरोत्तर स्वानुभूति पर आसीन होकर आत्मा के दिव्य अंश से साक्षात्कार कर सके, यही इस योग की उपलब्धि कही गई है। आयुर्वेद का 'प्रसन्नात्मेन्द्रिय मनः स्वस्थ इत्यभिधीयते' सिद्धान्त इसी आत्मिक सुख की ओर इंगित करता है। राजयोग हमें एक ऐसी चमत्कारी कुञ्जी सौंप देता है, जिससे हम न केवल आध्यात्मिक ज्ञानकी चरम सीमा प्राप्त कर पाते हैं अपितु रोगों एवं क्लेशदायक वृद्धावस्था से अपने को मुक्त कर पाने में सक्षम हो जाते हैं। चिर यौवन तथा दीर्घ स्वस्थ जीवन का लाभ लेते हुए अन्त में सहज ही मोक्ष के अधिकारी बन जाते हैं।

न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु।
प्राप्तस्य योगाग्नि मयं शरीरम् ॥

रोगों के निरोध का कितना बढ़िया उपाय योगशास्त्र में कहा है। यदि सारी जनता इस विधि को अपना ले तो सरकार को महामारी आदि के निरोध पर जो अपार धनराशि खर्च करनी पड़ती है उसके व्यय की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी। यह धनराशि किसी अन्य उपयोगी योजनाओं में लगाई जा सकेगी।

योग-चिकित्सा—

योग-चिकित्सा के सम्बन्ध में स्वकीय अनुभवों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इसमें पूर्णतया रोग-मुक्ति के उपाय निहित हैं। ओज, तेज, बल, वीर्य, विक्रम सभी का संरक्षण और वर्द्धन योग प्रणाली द्वारा होता है उतना श्वास रोगियों को श्वास बदलने की विधि, दाहिने स्वर का अधिकतम् अभ्यास तथा दाहिने स्वर में ही प्राणायाम के अभ्यास द्वारा श्वास रोगियों को श्वास नियन्त्रण में सक्षमता प्राप्त करने की बात योग-शास्त्र अर्थात् प्राण-शास्त्र में कही है। सिद्धगुफा में श्री सद्गुरुदेव जी के साहिक्य में इन विधियों द्वारा श्वास रोगियों को पूर्णतया इससे लाभ होते हुए भी देखा गया है। नेति-धौति क्रियायें श्वास रोग मूलतः नष्ट हो जाते हैं। बात-

सच्चा शिष्यत्व

श्री विष्णु प्रसाद व्यास, बीना

अनन्त बनने के लिए हमें अपने व्यक्तित्व को गुरु स्वरूप में समाहित कर देना होगा जिस प्रकार एक नदी सागर में मिल कर उसी का एक अङ्ग बन जाती है और यदि वह सागर से अलग होकर फिर नदी बन जाये तब भी उसमें सागर के गुण रहते ही हैं, उसी प्रकार जिज्ञासु को अपने आध्यात्मिक गुरु के साथ एकता प्राप्त करनी चाहिये उसको अपने गुरु के समक्ष पूर्ण रूप से आत्म समर्पण कर देना चाहिये।

जिसने संसार को छोड़ दिया है और ज्ञान की खोज में है वही अपने गुरु के पद-पाद में बैठने वाला अधिकारी शिष्य होता है बहुत से शिष्य गुरु के पास तुरन्त शक्ति प्राप्ति की इच्छा से आते हैं। वे गुरु को चमत्कारी समझकर यह आशा करते हैं कि गुरु स्वयं उनका विकास कर देगा, परन्तु वास्तव में गुरु अपने शिष्य को केवल प्रेरणा देता है। वह शिष्य को अपने स्वयं के प्रयासों द्वारा उन्नति करने का अवसर देता है उसके असफल होने पर उसके उत्साह को जगाता है न कि उसके लिये स्वयं कार्य करता है।

एक मनुष्य को सर्जन या पायलेट बनने के लिये कई साल लगते हैं, इस संसार में

(पिछले पृष्ठ का शेष)

रोगियों को भोजनोत्तर वज्रासन में बैठकर सिर पर कंघी फेरने से, अर्श-रोगियों को गणेश क्रिया और अश्विनी मुद्रा से लाभ होता है। यह हमें याद रखना होगा कि भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों में—

युक्ताहारविहारस्य,
युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य,
योगो भवति दुःखहा॥

यह दुःखों का नाश करने वाला योग तो यथायोग्य आहार-विहार करने वाले का तथा कर्मों में यथायोग्य चेष्टा करने वाले का और यथायोग्य शयन करने तथा जागने वाले का ही सिद्ध होता है।

इसी प्रकार मिथ्याहार विहार करने वालों के दोष कुपित होकर विविध रोगों को उत्पन्न करते हैं। मिथ्याहार विहार से न स्वास्थ्य प्राप्त किया जा सकता है न योग सिद्धि हो पाती है। पथ्य व्यवस्था का पालन करते हुए हम चरकानुसार त्रिकाल द्रष्टा बन सकते हैं।

रजस्तमोभ्यां निर्मुक्ता,
स्तपोज्ञान बलेन ये।
येषां त्रैकाल ममलं,
ज्ञानं व्याहतं सदा॥

गुरुओं के मुकाबले में बहुत अधिक सर्जन तथा पायलेट हैं।

सर्जन शरीर को स्वस्थ करता है, परन्तु गुरु आत्मा को स्वस्थ करके संसार में ईश्वर की विद्यमानता को प्रकाशित करता है। पायलेट यात्रा में वायुयान का पथ प्रदर्शन व नियंत्रण करता है, जबकि गुरु आत्मा को सर्वोच्च चेतना का मार्ग प्रदर्शित करता है।

बहुधा शिष्य अस्थिर चित्त के होते हैं, वह इस आशा को लेकर एक गुरु से दूसरे गुरु के पास उछाल लगाते हैं कि वह पहिले वाले गुरु से अच्छा होगा, परन्तु हमें एक ही गुरु बनाना चाहिये और प्रत्येक स्थिति में उसी का अनुसरण करना चाहिये। गुरु अपने शिष्यों की सबसे अधिक परीक्षा यह देखने के लिये लेता है कि वह कितना योग्य है तथा परिस्थितियों से कैसे जूझेगा। गुरु उनसे इतना परिश्रम करवाता है कि वह पूर्णतया क्लान्त हो जावे। गुरुभक्ति बहुत से जिज्ञासुओं को संसार सागर से पार लगा देती है।

आजकल शिष्य चाय व काफी की तरह 'तुरन्त समाधि' चाहता है वह यह नहीं सोचता कि प्रारम्भ में आध्यात्मिक पथ कांटों से भरा हुआ होता है जबकि सांसारिक जीवन सुखमय है परन्तु अन्त में आध्यात्मिक जीवन अनन्त सुख की प्राप्ति कराता है और सांसारिक जीवन सदैव के लिये कष्टदायक बना रहता है।

शिष्य को, जो गुरु चरणों में बैठता है। शिल्पी के हाथ की मिट्टी की तरह होना चाहिये, गुरु को इसकी पूर्ण स्वतन्त्रता हो कि वह शिष्य को किस ढांचे में ढाले, जिससे उसका आन्तरिक शक्ति पूर्णतया प्रस्फुटित हो सके, ऐसे ही शिष्य सफलता की उच्चतम सीढ़ी पर पहुंचते हैं तथा वही दूसरों का उचित मार्ग दर्शन देकर उनमें ईश्वरीय व्यापकत्व का प्रकटीकरण करते हैं।

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध सबसे ऊँचा है यही वह अन्तिम सम्बन्ध है, जो आत्मा की मुक्ति का साधन बनता है।

भूषण

नभोभूषा पूषा कमलवनभूषा मधुकरो।
वचोभूषा सत्यं वरविभभूषा वितरणम्॥
मनोभूषा मैत्री मधुसमयभूषा मनसिजः।
सदोभूषा सूक्तिः सकलगुणभूषा च विनयः॥

आकाश का भूषण सूर्य है, कमलवन का भूषण भ्रमर है, वाणी का भूषण सत्य है, संपन्नता का भूषण दान करना है, मन का भूषण मित्रता है, मधुमास का भूषण कामदेव है, सभा का भूषण सूक्ति है और समस्त गुणों का भूषण विनय है।

निजानुभूति—

श्री सद्गुरुदेव जी के चरणों में मेरा आत्म-समर्पण

श्री कपिलदेव उपाध्याय

समय जाते देर नहीं लगती। कितने साल बीत गये पर लगता है कि अभी कल की ही बात है।

गुरुदेव जी की दुर्गापुर में आगमन की खबर हमारे एक बहुतही शुभचिंतक श्री प्रवीणकुमार बनर्जी एम-एस० सी०, पी-एच० डी० के द्वारा तब प्राप्त हुई, जबकि मेरे लिये यह निश्चित हो चुका था कि आज का सूरज तो देख लिया पर कल का सूरज दिख सकेगा या नहीं, कुछ कहा नहीं जा सकता। मुझे तरह-तरह की बीमारियों ने घेर रखा था और बीमारियां एक-दूसरे के विपरीत थीं। एक का इलाज करने से दूसरी बढ़ जाती और दूसरी का करने से पहली। डाक्टरों ने एक तरह से कह ही दिया था कि ईश्वर को छोड़कर और कोई कुछ भी नहीं कर सकता।

मेरी पत्नी की यह हालत थी कि जहाँ कहीं पर भी मिट्टीका ऊँचा टीला देखती वहीं अपना सिर पटकती शायद ईश्वर इसमें से ही निकल कर आवें और मेरे पति की प्राण रक्षा करलें।

मेरी बीमारियों के मुख्य कारणों में मेरी अपनी भी कुछ आदतें थीं। मैंने ईश्वर तथा अध्यात्म की तलाश में बहुत सारी पुस्तकें पढ़ीं, बहुतों को तर्क में परास्त किया, अपनी पीठ आप ही ठोंका। और अपनी प्रतिभा पर गर्व करता पर वास्तव में मेरे भीतर सब खाली का खाली ही था। सब कुछ वाचिक ज्ञान ही था। अब तलाश हुई गुरु की। कुछ तांत्रिकों के चक्कर में पड़ गया और उनके अनुसार साधनायें शुरू करदीं। पर फिर भी कुछ प्राप्ती नहीं हुई, सिवाय इसके कि अभक्ष्य भक्षण सीख लिया। अन्त में इन सबके परिणाम स्वरूप तरह-तरह की बीमारियों ने मुझे धर दबाया।

जब मेरी हालत काफी चिन्ता जनक थी, उसी समय की यह घटना है। बनर्जी महाशय की कृपा मेरे ऊपर हुई। मैंने सुना था कि वे जब पटना साइन्स कालेज में रसायन शास्त्र का अध्ययन करते थे। तभी घर से भागकर हिमालय की ओर चले गये थे। उनके गुरु कौन थे, अभी हैं भी या नहीं, वे कहां रहते हैं इन सबके बारे में बहुत प्रयत्न करने पर भी मैं कुछ जान नहीं सका सिर्फ इतना ही जान पाया कि दूरदर्शन और श्रवण की सिद्धियां इन्हें प्राप्त थी जो अब वे खो चुके हैं। स्वयं उन्होंने ऐसा कहा यह कहते-कहते वे

रोने लगे और मेरे भी इस दुःखद प्रसंग को आगे नहीं उठाया।

अस्तु ? उन्होंने मुझसे कहा "उपाध्याय हिमालय से नीचे सिर्फ एक ही सिद्ध महापुरुष हैं अगर उनके चरण पकड़ लोगे तो तुम बच जाओगे।" मैंने बड़े ही आग्रह से कहा मुझे बताओ मैं अवश्य जाऊँगा। तब उन्होंने बताया दुर्गापुर में २४ जनवरी से २६ जनवरी तक महावतार बाबाजी के महासिद्ध शिष्य योगीराज चन्द्रमोहन जी महाराज आने वाले हैं, अगर उनकी कृपा हुई तो तुम अवश्य बच जाओगे।

मैंने उनसे भी चलने को कहा पर वे राजी नहीं हुए। दूसरे दिन २४ जनवरी थी, मैं उनके द्वारा बताये हुए स्थान पर पहुँचा जहाँ महायोगीराज का प्रवचन होने वाला था। हाल में कुर्सियाँ लगी हुई थीं ३० या ४० आदमी बैठे थे मैं भी भीतर जाकर चुपचाप बैठ गया। प्रवचन चल रहा था, एक सज्जन धोती कुर्ता पहने मूछें और दाढ़ी मुड़वाये, कुछ कह रहे थे, पर मेरी उनमें कुछ रुचि नहीं थी मैं तो योगीराज को खोज रहा था। योगियों के बारे में दादी अम्मा की कहानियाँ सुन-सुन कर एक धारणा सी बैठी थी कि योगी ऐसे होते हैं वैसे होते हैं आदि।

मैं अपने अन्दर बड़ी बेचैनी महसूस कर रहा था सोचा यह सेठजी योगी बाबा के कोई शिष्य होंगे या प्रबन्धक होंगे। इनका प्रवचन समाप्त होने पर ही योगीराज आयेंगे। पर बहुत समय बीत जाने के बाद वहाँ कोई नहीं आया। तब मैंने अपने बगल वाले एक सज्जन से पूछा "क्या योगी बाबा नहीं आयेंगे।" उसने मुझे चुप रहने का इशारा किया मैं थोड़ी देर तक चुपचाप बैठा रहा। फिर दूसरी बगल में बैठे हुए व्यक्ति से भी अपना वही सवाल दुहराया। उसने भी मुझे चुप रहने का संकेत किया। अब मुझसे नहीं रहा गया हाल से बाहर निकल कर घर जाने की सोचने लगा। चलते चलते सोच रहा था। शायद योगीराज का दर्शन नहीं होगा। मेरी तकदीर ही खराब है। मन निराशा से भर गया था। उसी समय "दिनकर" की एक पंक्ति मुझे याद पड़ी कि "क्षुद्रपात्र हो मग्न कूप से जितना जल लेता है। उससे अधिक जलधि भी उसको नहीं कभी देता है।" सोच-कर थोड़ा संतोष कर ही रहा था कि गेट पर खड़े एक परिचित व्यक्ति ने कहा "कैसे चल दिये।" मैंने कहा भाई साहब आया था योगी बाबा के दर्शन करने, पर "भाग्यं फलति सर्व-त्रम् न चविद्या न पौरुषम्।" मेरी बातों पर वे हँसते हुये बोले—भाई साहब यही तो योगीराज हैं। जो बोल रहे हैं मैं यह जानकर बहुत देर तक हैरान रह गया और बहुत ही डर गया। हायरे मैंने तो इनके बारे में जो कुभावना बना डाली है क्या अब वे मुझ पर कृपा करेंगे। वे लोग तो अन्तर्यामी होते हैं।

मेरे मन की सारी बातें तो वह जान ही गये होंगे। अब क्या किया जाय। मैं चुपचाप बैठकर प्रवचन समाप्त होने की प्रतीक्षा करने लगा। जब प्रवचन समाप्त हुआ तो सभी लोग प्रणाम करके प्रसाद लेने लगे। गुरुजी महाराज पीठ पर एक धमाका लगाते और "आशीर्वाद" कहकर प्रसाद दे देते थे। मैंने सोचा इतने जोर का धमाका कहीं मुझे लगा तो शायद मेरी पीठ की एक या दो हड्डियों का ही सफाया हो जाय पर बहुत जल्दी ही मेरा भय दूर हो गया। वह स्पर्श तो इतना मृदुल था कि उसकी याद आते ही अभी भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मैं घर वापस आ गया।

दूसरे दिन जब मैं घर से बाहर निकल कर बाजार में आया तो देखा कि एक कार में कल वाले महाराज मेरे रास्ते पर ही खड़े हैं। पीछे की सीट पर झा जी थे, पहचानने में कोई दिक्कत नहीं हुई। मैंने पास जाकर निवेदन किया "प्रभो मुझे आप से दीक्षा लेनी है" "दीक्षा लेनी है?" उन्होंने हँसते हुए पूछा "क्या नाम है तुम्हारा?" "कपिलदेव उपाध्याय" ब्राह्मण हो? मैंने कहा "हाँ महाराज" तब प्रभुजी ने आदेश दिया ठीक है ११ बजे से पहले इस पते पर आ जाना। मैंने पीछे बैठे हुए सज्जन जिनका नाम बाद में मुझे पता चला कि 'झा' महाशय हैं दीक्षा में क्या-क्या लगेगा पूछकर तुरन्त लिखा लिया और सामान लेकर नियत समय पर पहुँच गया। गुरुदेव मुझसे पहले ही पहुँच चुके थे। शुभ घड़ी में मेरी दीक्षा हो गई। मैंने प्रभुजी से निवेदन किया प्रभुजी मेरी आयु समाप्त हो चुकी है मैं मरने वाला हूँ मुझे कलेजे का दर्द चीनी तथा उच्च रक्त चाप और भी पता नहीं क्या-क्या बीमारियाँ हैं। गुरुदेव ने मेरी बातों को सुना और एक ब्रह्मचारी को आदेश दिया जीवनतत्व सिखाने के लिये।

मैंने घर लौट कर सारी बातें अपनी पत्नी को कह सुनाईं। मैंने बताया एक गुरु महाराज से दीक्षा लेनी है। दीक्षा लेना और गुरु बनाना मेरा एक पेशा सा बन गया था। गीता पढ़कर जो समझा था वह यह कि "योगः कर्मसु कौशलम्।" चालाकी से अपना मतलब निकाल लो। मेरी पत्नी इससे तंग आ चुकी थी। चार छः महीने बीतते न बीतते कोई न कोई गुरु मैं बना ही लेता था। इस बार हमारे चौदहवें या पन्द्रहवें गुरु की बारी थी। उसने झल्लाते हुये कहा "भाड़ में जाओ तुम और तुम्हारे गुरु।" मुझे मत सुनाओ, पर मैंने माना नहीं। दूसरे दिन किसी तरह से गुरुदेव के दर्शन के लिये उसे राजी कर लिया। हम लोग जब गुरुजी के कमरे के बाहर ही थे तभी से मैंने अपनी पत्नी को कहा कि पैर छूकर प्रणाम करना, पर वह राजी नहीं हो रही थी। हम आपस में तर्क

(शेष टाइटिल के तीसरे पृष्ठ पर)

(पृष्ठ ४८ का शेष)

करते-करते गुरुजी के पास तक पहुँच गये और साष्टांग प्रणाम किया। मैंने पत्नी को भी कहा पर वह सिर्फ हाथ जोड़कर प्रणाम कर रही थी मेरी स्थिति बड़ी नाजुक हो रही थी। लेकिन इसका उस पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ रहा था। अन्त में प्रभुजी से निवेदन किया:- "गुरुदेव हमारी स्त्री कम पढ़ी लिखी है और गांव की है उसके अपराध क्षमा करें वह आपके पैर नहीं छू सकती। गुरुजी ने प्रश्न किया "क्यों ?" मैंने कहा प्रभुजी वह कहती है कि पता नहीं आप किस जाति के हैं सिद्ध-पुरुष होने से क्या होता है। हम तो ब्राह्मण हैं गैर ब्राह्मण के पैर छूने से दोनों को पाप लगता है। गुरुदेव ने उत्तर को सुनकर बहुत जोर से ठहाका लगाया और हँसते हुए उन्होंने कहा "बेटा यह मूर्ख नहीं है, तुम महामूर्ख हो, वह ठीक कहती है। आओ बेटी मैं हरियाणे का गौड़ ब्राह्मण हूँ, बाल ब्रह्मचारी हूँ, और योगी हूँ। मेरा पैर छूने में तुम्हें कोई पाप नहीं होगा। मेरी पत्नी बड़े प्रसन्न चित्त से प्रभु के चरणों में गिर पड़ी और प्रभुजी करीब करीब पन्द्रह मिनट तक उसी आशीर्वाद देते रहे "सौभाग्यवती" "अस्तु सौभाग्यम्" और उसके कुछ क्षण बाद से मेरे सीने के दर्द का कहीं पता नहीं रहा। मैंने बहुत देर तक अनुभव करने की कोशिश की पर पता नहीं चला। चार साल पुराना दर्द जो लम्बी सांस लेने में लगता था कि छाती फट न जाये किधर कहां कैसे चला गया। मैं अभी भी बीमार हूँ लेकिन उतनी भयङ्कर बीमारी के दौर से नहीं गुजर रहा हूँ। पर गुरुदेव जी का कृपा पूर्ण आशीर्वाद ही मुझे साहस का सम्बल प्रदान करता रहता है।

अनुचर के दोष क्षमा करिये।
मस्तक पर वरद पाणि धरिये॥

—❀ स्वास्थ्य की महत्ता ❀—

विश्व के समस्त पदार्थों में आरोग्यता प्रधान है। नीरोग स्त्री-पुरुष ही संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं को प्राप्त करने एवं भोगने में समर्थ होते हैं।

झोपड़ी में रहने वाले नीरोग निर्धन को जो सुख-शान्ति एवं आनन्द है वह रुग्ण बने रहने वाले धनवानों एवं राजा महाराजाओं को महलों और कोठियों के निवास में उपलब्ध नहीं होता है। सौन्दर्य भी स्वस्थ मन स्वस्थ शरीर तथा स्वस्थ स्वभाव के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

अथर्व वेद काण्ड १९ सूक्त ५५ में आदेश है कि ईश्वर की उपासना, विद्वानों का सत्सङ्ग अग्नि होत्र योगाभ्यास एवं विविध प्रकार के आसनों आदि के द्वारा समस्त इन्द्रियों तथा मन को दृढ़ बना स्वास्थ्य प्राप्त कर मानव जीवन सफल एवं सुखमय बनाओ।

आचार्य बाग भट्ट का कथन है कि दिनचर्या रात्रिचर्या एवं ऋतुचर्या के अनुसार चलने से ही आरोग्यता प्राप्त की जा सकती है।

—श्री पं० शिवकुमार वैद्य शास्त्री

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 Sept. 1985

प्रेषक कार्यालय :—

'सिद्ध योग'

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सर्वाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री..

....

....

....

योग-साधकों से

जब तुम ऊपर सत्य लक्ष्य की ओर चढ़ाई कर रहे हो, तब नीचे की ओर न देखो, नीचे रहने वालों से सम्बन्ध न रखो, अपने से आगे जाने वालों को देखो और उन्हीं की सम्पति को स्वीकार करो। कदाचित् नीचे उतरना पड़े, तो ध्यान रखो कि नीचे रहने वालों को ऊपर उठाने के लिए उतरो। निम्न स्तरों में कहीं सुखासक्त न बनो। अपने प्रति सदा कठोर रहो और दूसरों के प्रति उदारता तथा विनम्रता को ही धारण करो।

प्रारब्धवश कोई अपनी मानी हुई वस्तु नष्ट हो जाय, अथवा कोई प्रिय सम्बन्धियों का शरीर न रहे या कोई पदाधिकार छिन जाय, तो शोक न करो क्योंकि इन बातों के पीछे जो शोक करते हैं वे बुद्धि तथा विचार से हीन प्राणी होते हैं।

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' [illegible]